190

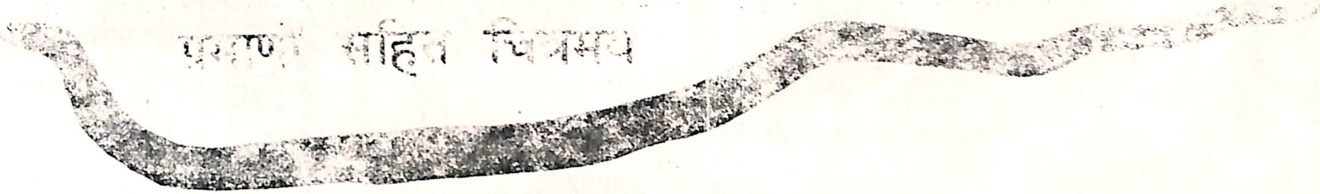
ॐ

नागजाती का इतिहास.

सुदमहादेव त्रिशूल
अभिलेख
एवं
अन्य राज्योंके त्रिशूलाभिलेख

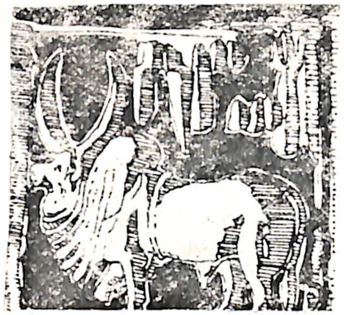
शोध प्रबंध

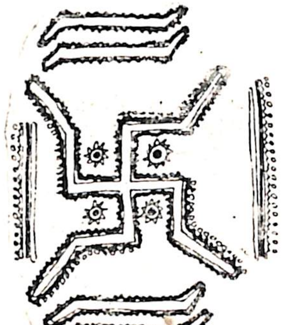
प्रमाण सहित चित्रमय



प्रागैतिहास की लुप्तप्राय नाग संस्कृति के अवशेष चिन्ह

प्रस्तोता : श्रीवैष्णव [illegible] सन्त
स्वामी हरिहरदास [illegible]
शोधकर्त्ता : [illegible] के रूप में ।







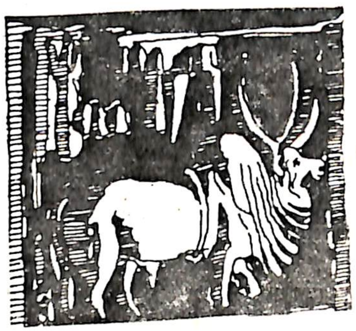
अति महत्वपूर्ण पुरातात्विक

प्रमाणों सहित चित्रमय

प्रागैतिहास की लुप्तप्राय नाग संस्कृति के अवशेष-चिन्ह

प्रस्तोता :- श्रीवैष्णव विरक्त सन्त स्वामी हरिहरदास त्यागी

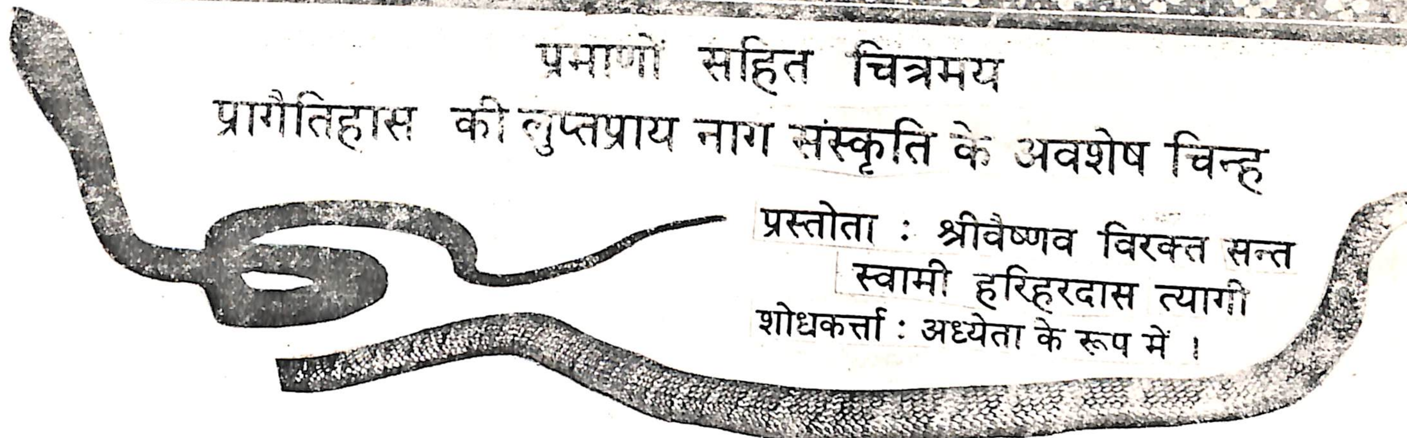
शोध कर्ता : अध्येता के रूप में







प्रमाणों सहित चित्रमय
प्रागैतिहास की लुप्तप्राय नाग संस्कृति के अवशेष चिन्ह



प्रस्तोता : श्रीवैष्णव विरक्त सन्त
स्वामी हरिहरदास त्यागी
शोधकर्त्ता : अध्येता के रूप में ।

जो लोग सदैव अपने अतीत की ही ओर दृष्टि लगाये रखते हैं, आजकल सभी लोग उनकी निन्दा किया करते हैं। वे कहते हैं कि इस प्रकार निरन्तर अतीत को देखते रहने के कारण ही हिन्दू जाति को नाना प्रकार के दुःख और आपत्तियाँ भोगनी पड़ी हैं ; किन्तु यह धारणा है उसका विपरीत ही सत्य है। जब तक हिन्दू जाति अपने अतीत को भूली हुई थी, तब तक वह संज्ञाहीन अवस्था में पड़ी रही, और अतीत की ओर दृष्टि जाते ही चहुँ ओर पुनर्जीवन के लक्षण दिखायी दे रहे हैं। भविष्य को इसी अतीत के साँचे में ढालना होगा, अतीत ही भविष्य होगा।

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि जो जाति अपने अतीत को भूल जाती है वह भविष्य का निर्माण नहीं कर सकती। यह भी एक सर्वमान्य सत्य है कि जो जाति अपने बीते हुए कल के मोहजाल में फंस जाती है और आने वाले कल के प्रति अपने कर्तव्य का पालन

नहीं करती, वह नया इतिहास नहीं बना पाती, पुराने इतिहास के पन्नों में ही कहीं खो जाती है। हमें इतिहास को भूलना नहीं है, किंतु भूतजीवी भी नहीं होना। हमें वर्तमान के यथार्थ में जीना है। भविष्य को अपने संकल्पों के अनुरूप गढ़ना है। इतिहास के उजालों और अंधेरों से सही निष्कर्ष निकालना है। द्वंद्वमय जगत और जीवन हमें यही पाठ पढ़ाते हैं। यह स्वाभाविक है कि जहां एक ओर हम अपने गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण करें, वहां दूसरी ओर २१वीं शताब्दी की चुनौतियों का सही मूल्यांकन कर उनका सफलतापूर्वक सामना करने के लिए स्वयं को सन्नद्ध करें।

सभी प्राचीन जातियों के पौराणिक ग्रन्थों में, उनके वीरों की गाथाओं में यह देखा जाता है कि उनका प्राण उनके शरीर के किसी विशेष छोटे से अंश में आबद्ध था, और जब तक उनका वह अंश अस्पर्शित रहा, तब तक वे अजेय रहे। इसी प्रकार प्रतीत होता है कि मानों प्रत्येक जाति में किसी विशेष स्थान में उसकी जीवनशक्ति संचित रहती है, और जब तक वह स्थान अक्षुण्ण बना रहेगा, तब तक किसी प्रकार का दुःख या विपत्ति उस जाति का विनाश नहीं कर सकती।

धर्म ही है भारत की यह जीवनशक्ति, और जब तक हिन्दूजाति अपने पूर्वजों से प्राप्त उत्तराधिकार को नहीं भूलेगी, तब तक संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो उसका ध्वंस कर सके।

हिन्दू लोग अतीत का जितना ही अध्ययन करेंगे, उनका भविष्य उतना ही उज्ज्वल होगा, और जो कोई इस अतीत के बारे में प्रत्येक व्यक्ति को विज्ञ करने की चेष्टा कर रहा है, वह स्वजाति का परम हितकारी है। भारत की अवनति इसलिये नहीं हुई कि हमारे पूर्व - पुरुषों के नियम एवं आचार - व्यवहार खराब थे, वरन् उसकी अवनति का कारण यह था कि उन नियमों और आचार–व्यवहारों को उनकी न्याय - संगत परिणति तक नहीं ले जाने दिया गया।

5

विदेशी आक्रमणकारियों के सम्मुख भारत ने पूरी तरह पराजय कभी नहीं मानी। कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में, स्वाधीनता का संग्राम चलता रहा, बगावत की चिनगारी सुलगती रही। विदेशी अपनी सेना और शस्त्रों के बल पर भले ही धरती पर अधिकार जमाने में सफल हुए, किंतु दिलों और दिमागों से स्वराज्य और स्वधर्म की स्थापना का संकल्प नहीं मिटा सके। युद्ध के मैदान में पराजित भारत न केवल अपनी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा करने में सफल हुआ, किंतु सबको आत्मसात करने की अदभुत समन्वय शक्ति के कारण परायों को अपना बनाने में भी समर्थ हुआ। सैनिक पराजय को सांस्कृतिकविजय में बदलने का यह दृश्य इतिहास का एक अविस्मरणीय अध्याय है। यूनानियों, तूरानियों, मीडियनों, ईरानियों, शकों, हूणों, तुर्कों, मंगोलों, कुशाणों, मुगलों तथा अन्य समूहों को जो आक्रमणकारी के रूप में आये, अपने में खपा लेना, इस देश की मिट्टी और उस मिट्टी से सम्भूत संस्कृति की जिस विशेषता की ओर इंगित करता है, वह निश्चय ही हमारे गौरव का विषय है।

एक यक्षप्रश्न जो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के हृदय को उद्वेलित और आंदोलित करता रहा है वह यह है कि सभी प्रकार की प्राकृतिक, भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सम्पदाओं से युक्त इस देश को दूसरे की दासता क्यों स्वीकार करनी पड़ी? आचार्य चाणक्य की इस स्पष्ट घोषणा के बाद कि आर्य दास नहीं होते, हम बार-बार दास क्यों बने ? हमारे पूर्वज स्वयं को परास्त, पददलित और प्रताड़ित होने से क्यों नहीं बचा सके? विश्व का इतिहास विचित्र घटनाओं से भरा हुआ है, किन्तु शायद ही कोई ऐसा अभागा देश होगा जिसमें गुलामों ने शासन किया हो, यह भारत में हुआ। जो लोग आक्रमणकारियों द्वारा यहाँ गुलाम बनाकर लाये गये थे, वे गृहकलह का लाभ उठा कर, मालिक बन बैठे और राज करते रहे।

भारत का पुनरुत्थान होगा, पर वह जड़ की शक्ति से नहीं, वरन् आत्मा की शक्ति द्वारा। वह उत्थान विनाश की ध्वजा ले कर नहीं, वरन् शान्ति और प्रेम की ध्वजा से, संन्यासियों के वेश से – धन की शक्ति से नहीं बल्कि भिक्षापात्र की शक्ति से सम्पादित होगा। ऐसा मत कहो कि हम दुर्बल हैं, कमजोर हैं। आत्मा सर्वशक्तिमान है।

प्रत्येक मनुष्य एवं प्रत्येक राष्ट्र को महान् बनाने के लिए ४ बातें आवश्यक हैं–

१. सदाचार की शक्ति में विश्वास,

२. ईर्ष्या और सन्देह का परित्याग,

३. जो सत् बनने या सत् कर्म करने के लिए यत्नवान हों, उनकी सहायता करना।

४ अहं-स्वार्थ-लोभ विहीन पारमार्थिक एवं संस्कारमय तथा समाज सेवा भाव का होना।

धन ग विश्व में युद्धों का सूत्रपात हुआ है। धन के कारण ईसाइयों ने एक दूसरों को पावों तले कुचला है। द्वेष, घृणा और लोभ का जनक धन है। यहाँ तो बस काम ही काम और धक्कमधुक्का है।

अभिव्यक्त ऊर्जा का परिणाम तो सदैव वही रहता है, इसलिये सुख की वृद्धि का प्रयास भी मूर्खतापूर्ण ही है। यह कहना कि दुःख से रहित सुख की प्राप्ति हो सकती है बिल्कुल निराधार है। सुख के साधनों को बढ़ाकर तुम लोगों की आवश्यकताओं को बढ़ा देते हो और आवश्यकताओं के बढ़ने का अर्थ है, उस पिपासा का जन्म जो कभी शान्त नहीं होने की। किस चीज से इस पिपासा को शान्त करोगे तुम? और जब तक यह पिपासा बनी रहेगी, तब तक अशान्ति रहेगी ही।

हमारी प्रवृत्तियाँ हमारे अतीत के संचित कर्मों के ही परिणामस्वरूप हैं। कोई भी बच्चा कुछ खास प्रवृत्तियों के साथ पैदा होता है। वे कहाँ से आती हैं? कोई भी बच्चा सादे पत्रे की तरह कोरा मन लेकर पैदा नहीं होता।

धर्म मानने वाले व्यक्ति को आत्मचिंतन के लिए समय मिलता है और मनुष्य को इन सबसे बचाता है। कम धन में जीवन – यापन इसके कारण सम्भव है और भारतीय समाज में यही अभीष्ट है। जो प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में अन्तर्निहित महान् नैतिक नियम तथा अन्तिम पूर्णता में विश्वास करते हैं। सभी मनुष्यों द्वारा स्वीकृत सभी मत महान् भविष्य में अन्तर्निहित आत्मा की अनन्तता को अनुभव करने के लिये मानवता के प्रयत्न मात्र हैं।

7

कालबोध

बीसवीं शताब्दी कहने का अर्थ है कि हमारा कालबोध मात्र दो हजार वर्ष पुराना है। इतिहास को हमने संकुचित कर दिया। इसका एक सहज परिणाम यह होता है कि ईसा पश्चात का इतिहास तो व्यवस्थित है, सूत्रबद्ध है और ईसापूर्व इतिहास का एक पृथक काल है जिसको सिद्ध करना होगा। उसकी घटनाएं तब ही सार्थक मानी जाएंगी जब ईसा पश्चात की जीवनदृष्टि से उनका तालमेल बैठेगा। स्वाभाविक है इस दृष्टि से उपनिषद्, वेद, वेदान्त, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, रामायण, महाभारत, महावीर , महात्मा बुद्ध सब पर लग जाता है प्रश्नचिह्न और उनका अस्तित्व सिद्ध करने का दायित्व हमारा हो जाता है।

किसी भी राष्ट्र के मानस का निर्माण एक दिन में नहीं हुआ करता। राष्ट्र की मानसिकता उसकी सांस्कृतिक यात्रा की फलश्रुति है। जीवन को, परिवेश को, विश्व के घटनाचक्र को समझने एवं उससे जुड़े प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने की दृष्टि इसी मानसिकता में से उपजती है। राष्ट्र की अपनी पहचान, उसकी संस्थाएं, उसके जीवन मूल्य सब कुछ इसी मानस के साथ जुड़े रहते हैं। राष्ट्र की चेतना और मानसिकता में गहन सम्बंध होता है। उसकी प्रकृति, मेधा, प्रतिभा, जीवनशक्ति, जिजीविषा सब इन दोनों का ही प्रतिफल हुआ करते हैं। किसी राष्ट्र से संवाद उसकी मानसिकता के अनुकूल भाषा में ही हो सकता है। जो भाषा, जो प्रतीक, जो उपक्रम उस राष्ट्र के मानस को स्पर्श करते हैं, स्पंदित करते हैं वही उसकी हृतंत्री के तार झंकृत कर सकते हैं। अत: राष्ट्रचेतना और राष्ट्रमानस को बिना समझे कोई कितना भी बड़ा विद्वान क्यों न हो वह लोकमानस में कोई स्फुरण उत्पन्न नहीं कर सकता।

यह सहज अपेक्षा थी कि स्वाधीनता के पश्चात भारतीय बुद्धिजीवी एवं राजनेता लोक-मानस एवं लोक चेतना के उत्स एवं मर्म को समझकर देश के प्रगतिपथ का निर्माण करेंगे। पर वैसा हुआ नहीं। क्योंकि वह यह जानते ही नहीं थे कि जब भारतवासी अपने सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन को अपनी प्रतिभा एवं वरीयताओं के अनुसार संचालित करने के लिए स्वाधीन थे तब वह किस प्रकार की जीवनदृष्टि रखते थे? यह कितनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति थी कि अत्यंत सुशिक्षित कहलाने वाले भी स्वाधीन भारत को भारतीय दृष्टि से न देखकर पश्चिमी दृष्टि से ही देखने का यत्न कर रहे थे। इस दृष्टिकोण के

कारण उनका कालबोध गड़बड़ा गया था। स्पष्ट एवं सही कालबोध के अभाव में राष्ट्र की पहचान भी विस्मृत होने लगती है। आज के भारत की अधिकांश विपत्तियों का मूल इसी में छिपा है।

आजकल एक प्रश्न बहुचर्चित रहता है कि इक्कीसवीं शताब्दी में विश्व और भारत कैसे होंगे? इस चर्चा का प्राण है कालबोध। अर्थात् जिस विश्व की हम चर्चा कर रहे हैं उसके क्रियाकलाप, सामाजिक–आर्थिक संस्थाओं के विकास सबके आयुष्य का मापन आज से दो हजार वर्ष पूर्व के संदर्भ बिन्दु से किया जा रहा है। पश्चिम की दुनिया में ईश्वरपुत्र ईसामसीह का आविर्भाव उनके कालबोध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संदर्भ बिन्दु है। ईसा के उपदेशों और जीवनचरित्र ने पश्चिम की आस्थाओं को आकार दिया। पश्चिम के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के निर्माण में ईसाई मजहब की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रही। उन देशों की राजनीतिक, आर्थिक संस्थाओं की पृष्ठभूमि में काम करने वाली मानसिकता, मूलअवधारणाओं एवं जीवनदृष्टि का विकास जिन मूल्यों पर आधारित रहा उनका उत्स ईसाइयत में मिलेगा। यहां तक कि गोर्बाचेव ने जब रूस में पेरेस्त्रोइका की बात की तब उन्होंने भी यही कहा था कि रूस तो यूरोपीय परिवार (पश्चिमी यूरोप) का ही अंग है; क्योंकि रूस में भी ईसाई मत उतना ही पुराना और प्रभावी रहा है जितना कि शेष यूरोप में। संक्षेप में मार्क्सवाद पर आधारित सामाजिक–आर्थिक संस्थाओं की विफलता के बाद रूसी मानसिकता और चेतना को अपने मूल रूप में अभिव्यक्त करने वाला तत्त्व ईसाई मत ही था। अत: उन्हें पश्चिमी यूरोप की सामाजार्थिक संस्थाओं को अंगीकार करने में कोई ज्यादा कठिनाई नहीं होगी।

दूसरी ओर कम्युनिस्ट रूस के प्रभाव से मुक्त होने पर मंगोलिया ने अपनी लोकचेतना और लोकमानस को प्रगट किया 'नागार्जुन' के माध्यम से। मंगोलिया का कालबोध और सांस्कृतिक यात्रा का पर्व इस प्रकार भगवान बुद्ध और उनके उपदेशों से प्रारंभ होता है। मार्क्सवाद पर आधारित संस्थाओं की विफलता के पश्चात मंगोलिया को अपने पुनर्निर्माण के लिए जिस ऊर्जा की आवश्यकता थी उसे लोकमानस में प्रवाहित करने के लिए उसने बौद्ध दर्शन का आश्रय लिया। लोकमानस, लोक चेतना एवं कालबोध का यह गहन मनोवैज्ञानिक सम्बंध समझे बिना राष्ट्र की सृजनात्मक शक्ति का प्रजागरण नहीं हुआ करता। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात भारत के सामने भी यही समस्या थी। नए भारत के अभ्युदय के लिए जिस लोकचेतना की आवश्यकता थी उसका आवाहन करने के लिए जिस लोकमानस को स्पर्श करना था उचित कालबोध के अभाव में वह जाग्रत नहीं हो सकी। इसकी कारण मीमांसा

आजादी के बाद बने भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू महात्मा गांधी ने जब उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित किया तब जो पत्र व्यवहार उन दोनों में हुआ था उससे पता चलता है कि दोनों के कालबोध भिन्न थे। महात्मा गांधी भारतीय मानस को जिन तत्त्वों से निर्मित समझते थे, नेहरूजी उनको दकियानूसपन कहकर परिभाषित करते थे। और नजदीक को ही अगर लें तो राजीव गांधी के जमाने में बहुत शोर मचाया गया हिन्दुस्थान को इक्कीसवीं सदी में ले जाना है, इक्कीसवीं सदी आ रही है, तैयारी करो, हिन्दुस्थान को 'मॉडर्नाइज' करो वगैरह–वगैरह। तो इन दोनों का कालबोध वही रहा जो पश्चिम का है। इसका सीधा अर्थ यह है कि पश्चिमी जीवन प्रणाली, उसकी सामाजिक–आर्थिक संस्थाएं, उसकी जीवनदृष्टि सब यथावत् अंगीकार कर लो। इससे यह भी तात्पर्य निकलता है कि भारत को, विश्व को पश्चिम की दृष्टि से देखो समझो;

अगर सारे भारतवासी एक बार यह निश्चय कर लेते कि भारत को केवल पश्चिम की आंखों से ही देखना–समझना है तो उनका मात्र उपनिवेश बन कर रहने में समाधान हो जाता; लेकिन स्वाधीनता संग्राम ने जिस लोकमानस का निर्माण किया था, जिस राष्ट्र चेतना को जाग्रत किया था, वह भारत को इस उपनिवेशवादी दृष्टि से देखने के विरुद्ध थी। फिर तो हमें स्वाधीनता की लड़ाई लड़ने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। वस्तुत: राजनीतिक स्वाधीनता का महासमर भारत के अपने कालबोध से उपजा था। उसका संदर्भ बिंदु ईसा के आविर्भाव से जुड़ा नहीं था। हमारी स्वाधीनता की अवधारणा मात्र संवैधानिक कल्पना नहीं थी वह एक उच्च आध्यात्मिक अधिष्ठान पर खड़ी थी।

सवाल है कि भारत की सांस्कृतिक यात्रा का प्रारम्भ कब हुआ? इसके उत्तर में ही हमारे कालबोध

यही कारण है कि भारत का अंग्रेजी पढ़ा-लिखा तथाकथित बुद्धिजीवी भारतीय मानस के सर्वथा विपरीत प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।

जिनका कालबोध युग-परम्परा से जुड़ा था उनके लिए श्रीराम भारत का यथार्थ थे और बाबर था आक्रामक। युगाब्द से जुड़े भारतीय मानस में यदि कलियुग सत्य है तो त्रेता भी सत्य है; बुद्ध का आविर्भाव सत्य है तो श्रीराम का जन्म भी सच है। पर जिसका कालबोध ईस्वी सन् से जुड़ा है उसमें न कलियुग है, न द्वापर, त्रेता का तो प्रश्न ही नहीं उसके लिए राम हैं मिथक पर बाबर है इतिहास का सत्य।

कालबोध और लोकमानस के गहन सम्बंध का यह एक ज्वलंत उदाहरण है। एक रामराज्य को भारतीय स्वाधीनता का लक्ष्य निरूपित करता है तो दूसरा उसे दकियानूस कहकर हंसी उड़ाता है।

विदेशी 'मॉडलों' से समाधान का फल

यही कारण है कि भारतीय विशेषज्ञ भारतीय समस्याओं का समाधान विदेशी मॉडलों की सहायता से करना चाहते हैं। वे भारत को यूरोपीय विद्वानों की नजर से देखते हैं। अत: वे भारत को एक राष्ट्र नहीं मानते। कैसे मान सकते हैं? उन्हें भारत की विविधता में एकता का अनुभव ही नहीं होता। वे यहां आर्यों को आक्रमणकारी मानते हैं और हिन्दू को सम्प्रदाय। उनका न आर्यभट्ट से परिचय है और न ही वेदांग नक्षत्रविद्या से। वे न तो पृथूदक स्वामी को जानते हैं और न ही भारद्वाज संहिता को। उन्हें यह पता ही नहीं कि स्वाधीन एवं प्राचीन भारत में आर्थिक चिंतन भी था या नहीं। उन्हें भारत के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार, समुन्नत प्रौद्योगिकी एवं विश्वविश्रुत सदाचार का कोई ज्ञान नहीं। उनका भारत से परिचय दो-तीन हजार वर्ष से अधिक नहीं। वे वैवस्वत मन्वन्तर से प्रारम्भ होने वाले मानव इतिहास के ध्वजवाहक नहीं, वे ईस्वी सन् के बाद उपजी पश्चिम की विकासयात्रा की चकाचौंध से दिग्भ्रमित पथिक मात्र हैं।

भारत पर एक साथ, एक ही समय, अलग-अलग क्षेत्रों में अनेक आक्रमण किए जा रहे हैं। ये आक्रमण आबादी के भी हैं और आर्थिक भी, सांस्कृतिक भी हैं और मजहबी भी। शिक्षा, साहित्य पर भी हैं और रहन-सहन तथा मनोरंजन आदि पर भी। इन आक्रमणों में कुछ परोक्ष हैं तो कुछ प्रत्यक्ष। कुछ आक्रमणों से केवल सरकार अवगत है और केवल कुछ का आम आदमी को भी पता है।

आम आदमी जिन आक्रमणों को जानता या नहीं जानता, जिनसे वह परिचित या अपरिचित है वे हैं संस्कृति, साहित्य, रहन-सहन और मनोरंजन के माध्यम से भारतवासियों के मन को गुलाम बनाने के लिए किए जा रहे आक्रमण। स्टार टी वी; सांस्कृतिक आदान-प्रदान करने के नाम पर देश-विदेश में किए जा रहे सांस्कृतिक मेले; साहित्य के नाम पर पश्चिम का घटिया साहित्य भारत के बाजार में झोंकते हुए मानसिक प्रदूषण उत्पन्न करके देश की नई पौध को परजीवी, चरित्रहीन और निर्मूल वृक्ष बना देने की एक मासूम किन्तु घातक योजना; आधुनिकीकरण के नाम पर रहन-सहन का पश्चिमीकरण और तीर्थाटन को पर्यटन में परिवर्तित करके देशवासियों की आस्था का वित्तीय और वाणिज्यीकरण आदि ऐसे आक्रमण हैं जो घुन की तरह देश को अन्दर से खोखला कर रहे हैं और हमें पता ही नहीं है कि किसी दिन हम कहीं के भी नहीं रह जाएंगे।

यह बहुत ही घातक षड्यंत्र है। ठीक किसी अनजाने व्यक्ति को अमृत बताकर विष पिला देने जैसा। इतिहास साक्षी है कि रोम की संस्कृति, सभ्यता और राष्ट्र इसी प्रकार के आक्रमणों के कारण मिट गये थे। आज के भारत की तरह प्राचीन रोम की सरकार भी अपनी संस्कृति बेचने लगी थी। अपने प्रेरक और पवित्र स्थलों का उपयोग अपनी राष्ट्रीय आस्था का पालन-पोषण और सम्वर्धन करने के लिए नहीं अपितु धनार्जन करने के लिए किया जाने लगा था। रोमवासियों को यह बताया गया कि तुम सर्कस देखो, नाटक देखो, मौजमस्ती करो, जीवन का मजा लो, तुम्हें किसी बात की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। सरकार (राजा) सब कुछ करेगी, सब कुछ कर रही है तुम्हारे लिए। रोम की नई पीढ़ी मौजमस्ती करने में लग गई, राष्ट्रीय आस्था अर्थार्जन का माध्यम बनी तो रोम दुनिया के मानचित्र से इस प्रकार मिटा कि उसका केवल नाम शेष रह गया। संस्कृति समाप्त हो गई। राजमुकुट नीलाम हो गया।

शिक्षा और शिक्षापद्धति के माध्यम से देशवासियों का अराष्ट्रीयकरण करने के आक्रमण से भारतवासी परिचित हैं। एक मैकाले ने करोड़ों भारतीयों को स्थायी रूप

से अंग्रेजों का ऐसा मानसिक और बौद्धिक गुलाम बना दिया कि भारत के तथाकथित शिक्षित वर्ग को अपनी परम्परा और अपने देश के अतिरिक्त सब कुछ ज्ञात है। यह वर्ग इस सीमा तक आत्महीनता से ग्रस्त है कि इसे अपने पूर्वजों अर्थात अपने माता-पिता को अपना माता-पिता कहने में भी लाज आती है। यह एक काल सत्य है कि भारत अपनी शिक्षित संतानों और बुद्धिजीवियों के कारण नहीं, उन निरक्षर किन्तु परम्परा से शिक्षित ग्रामवासियों के कारण सुरक्षित और जीवित है जो अपनी धरती और अपने आकाश के साथ पूरी तरह से जुड़े हुए हैं: जिन्हें अपने व्रत, त्योहार, मेला और मिलन का वैज्ञानिक मर्म भले ही ज्ञात नहीं है, जो अपनी सामाजिक मान्यताओं और पारिवारिक जीवन दर्शन का भाष्य तो नहीं कर पाते, नहीं कर सकते किन्तु लोक-परलोक के हित से जुड़ा उनका मन और आचरण उन्हें भटकने नहीं देता। ये अपने देश में, अपनी भूमि पर, अपनी परम्परागत भावना के साथ अखण्ड रूप से जीवन जीते आ रहे हैं। मैकाले की शिक्षा और साक्षरता से बचे ये निरक्षर अपने पिता और पितामह से प्राप्त शिक्षा, दाय और दायित्व का निर्वाह बहुत ही गहरी अनुभूति और जिम्मेदारी के साथ कर रहे हैं। ग्रामवासिनी भारतमाता अभी पश्चिम के सांस्कृतिक आक्रमण से बहुतांश में अप्रभावित है; किन्तु इसकी आंच अब वहां भी पहुंचने लगी है। उसका रास्ता जितना शीघ्र रोक दिया जायेगा, देश के लिए वह उतना ही अधिक मंगलमय होगा।

अप्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमण के अतिरिक्त देश पर एक प्रत्यक्ष और एक अर्द्धप्रत्यक्ष आक्रमण भी किया जा रहा है। प्रत्यक्ष आक्रमण देश के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में जनसंख्या का संतुलन बिगाड़कर किया जा रहा है, तो परोक्ष आक्रमण विकास के नाम पर इस देश के सदा स्वतंत्र किसानों की खेती पर कब्जा करने का है। पहले आक्रमण में देश को तोड़ने की योजना निहित है तो दूसरे में देश की राजनीतिक आजादी को आर्थिक गुलामी में जकड़कर भारत को अपना बाजार बनाते हुए अपनी मर रही अर्थ-व्यवस्था को बचाने का षड्यंत्र। पहला आक्रमण देश के पड़ोसी बंगलादेश और पाकिस्तान के करोड़ों घुसपैठियों के रूप में है तथा दूसरा गाट के डंकल प्रस्ताव के रूप में। एक आबादी के माध्यम से भारत के लिए आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और सुरक्षा सम्बंधी संकट उत्पन्न कर रहा है तो दूसरा भारत के सीधे सादे किसानों को परावलम्बी और परजीवी बनाकर अपनी मुट्ठी बन्द कर लेना चाहता है।

इन दोनों और ऊपर वर्णित अन्य आक्रमणों में से इस समय हम केवल अवैध आबादी बढ़ाकर देश को खतरे में डालने के सुनियोजित षड्यंत्र के विषय में विचार करें। इन सभी आक्रमणों का इरादा और उद्देश्य एक ही है —भारत के अस्तित्व को मिटाने का। बंगलादेशी, पाकिस्तानी और अफगानी घुसपैठ के कारण भारत का अस्तित्व दांव पर लगा है। पाकिस्तान १९७१ में अपने टूट जाने का बदला कश्मीर और पंजाब में आतंकवादी आक्रमण करके ले रहा है। वह राजस्थान और गुजरात की सीमा पर तस्करी द्वारा उस क्षेत्र को खोखला करने के साथ-साथ मादक औषधियों के अवैध व्यापार के रूप में आक्रमण कर रहा है, तो बंगलादेश अपनी भुखमरी, आर्थिक तंगी और मानवता के नाम पर अपने देश की आबादी के लिए जमीन प्राप्त करने हेतु भारी संख्या में घुसपैठ करके आबादी का आक्रमण।

बंगलादेश का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया जाता है तो उसकी प्रधानमंत्री श्रीमती खालिदा जिया साफ मुकर जाती हैं। कहती हैं कि एक भी बंगलादेशी घुसपैठिया भारत में नहीं है। यह बंगलादेश को नहीं भारत की अपनी समस्या है। जो लोग भारत में मतदाता हैं, जिनका वैध राशनकार्ड है, जिनका अपना निवास है, जो भारत के नागरिक हैं, उनसे बंगलादेश का कोई लेना-देना नहीं है। भारत अपनी समस्या बंगलादेश के सिर पर न थोपे।

और भारत सरकार! भारत सरकार भारतीय संसद में तो यह स्वीकार करती है कि लगभग डेढ़ करोड़ बंगलादेशी अवैध रूप से भारत में घुस आए हैं। उनकी पहचान की जा रही है। किन्तु पहचान करने में कठिनाई यह है कि वे यहां की आबादी में पूरी तरह घुल मिल गए है। गृहमंत्री जिस आबादी में बंगलादेशियों के घुलमिल जाने की बात करते हैं, उस आबादी की पहचान नहीं बताते। यह कहने से वह कतराते और भयभीत होकर कांपने लगते हैं कि देश के मुसलमानों का एक वर्ग इन बंगलादेशियों का शरणदाता है। उनके घरों में वे कहीं घर का सदस्य बनकर तो कहीं रिश्तेदार के रूप में रहते हैं।

पश्चिमी बंगाल, असम, त्रिपुरा और उत्तरी पूर्वी राज्यों सहित बिहार इस घुसपैठ से सर्वाधिक प्रभावित है। दिल्ली, हैदराबाद, मुम्बई आदि में एक लाख से तीन लाख तक बंगलादेशी रह रहे हैं। पश्चिम बंगाल के छह सीमावर्ती जिलों उत्तरी चौबीस परगना, दक्षिणी चौबीस परगना, नदिया, मुर्शिदाबाद, मालदा, पश्चिमी दिनाजपुर; बिहार के चार जिलों पूर्णिया, कटिहार, किशनगंज और अररिया, असम के धुबरी, बारपेटा, बोंगाई गांव, नालहट्टी, दरांग, नौगांव और कामरूप जिलों में भारत के स्थानीय मुसलमानों सहित वे बहुमत में हैं।

स्वतंत्रता का तात्पर्य

भारतीय स्वाधीनता संग्राम केबारे में भी कुछ चिंतन

आवश्यक है। पश्चिम में स्वतंत्रता [illegible] राजनीतिक परिकल्पना है। वहां स्वतंत्रता का अर्थ राजतंत्र की स्वेच्छा से संचालन की व्यवस्था है। पर हमारी स्वतंत्रता

की अभिधारणा राजनीति से नहीं उपजी। हमारा कालबोध हमें उपनिषदों से जोड़ता है। उपनिषद् कहते हैं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, 'अहम् ब्रह्मास्मि, ''तत्त्वमसि'। अब यदि यह सारा ब्रह्म है और मैं ही ब्रह्म हूं, तू भी वही है तब मनुष्य किसी के अधीन कैसे रह सकता है। मनुष्य ही क्यों? पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वनस्पति सभी तो ब्रह्म हैं। अतः उनकी संप्रभुता का उत्स किसी संविधान में नहीं है। वह तो स्वयंसिद्ध है। ब्रह्म तो स्वतंत्र एवं स्वाधीन है। अतः प्रत्येक प्राणी की अपनी एक स्वतंत्र सत्ता है। वह अपने अस्तित्व में स्वाधीनता का अनुभव सदा करता रहता है। 'धर्म अंधविश्वासों का पुलिन्दा नहीं, वरन पक्का विज्ञान है।' भारतीय जीवन मूल्यों व सनातम धार्मिक परम्पराओं को अक्षुण्ण रखने के लिए आध्यात्मिक परम्परा को समकालीन विश्व के लिए सार्थक व प्रासंगिक और भारत के वर्तमान को उसके गौरवपूर्ण अतीत से जोड़ने में सबका लक्ष्य था पूर्ण स्वाधीनता। पर जिनका कालबोध आंग्लमहाप्रभुओं के सम्पर्क से बिगड़ गया था वे केवल सुधारों से संतुष्ट हो जाते थे। जब हम अंग्रेज की उत्तराधिकारी सरकार के रूप में स्वतंत्रता का आगमन स्वीकार कर लेते हैं तब हम उस उपनिवेशवादी सरकार की स्थगित परम्पराओं को, संस्थाओं को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं? वही सब तो हमारी विरासत बनी है। भारतीय शासनतंत्र की यही सबसे बड़ी त्रासदी है। प्रत्येक भारतवासी, जिसका नाता वेद और उपनिषदों से है वह स्वाधीनता राजनीतिक

कारणों से नहीं चाहता। स्वाधीनता उसका स्वयंसिद्ध अधिकार है। स्वातंत्र्य उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति है। समाज या राष्ट्र की चेतना को अवरुद्ध करने वाला कोई तंत्र उसे कदापि स्वीकार नहीं होता।

मानवीय अधिकारों की आज बहुत डिमडिम बजाई जा रही है। कहा जा रहा है कि विश्व ने मानवाधिकार चार्टर पर हस्ताक्षर करके मानवमात्र को सांस्कृतिक राजनीतिक अधिकार दिए हैं पर जो लोग कहते हैं जिनका काल संदर्भ मात्र दो हजार वर्ष पुराना है, उसके पूर्व अशोक ने धौली शिलालेख में ही कहा था कि मेरे राज्य में अदालती निर्णय से कोई दण्डित नहीं होगा। पर भारत ने तो प्राणिमात्र को जीवित रहने का अधिकार दिया। अपनी अभिरुचि एवं आस्था के अनुसार पूजा एवं उपासना का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए मान्य किया। जब वैदिक ऋषि ने गाया था 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' तब हमने जनतंत्र और पंथनिरपेक्षता का सिद्धान्त आध्यात्मिक स्तर पर स्वीकार किया था। वह राजाज्ञा नहीं थी। वह था एक विश्व यथार्थ का साक्षात्कार और उसकी सहज स्वीकृति। यही अंतर है कालबोध का।

भारत में इन बुद्धिजीवियों का राष्ट्र के मानस एवं चेतना से कटाव हो चुका है देश में हो रहे सांस्कृतिक प्रदूषण तथाकथित प्रगतिशील लोगों के द्वारा सैकुलरिज्म के नाम पर हमारे सनातन एवं सांस्कृतिक मूल्यों को नष्ट करने का कुप्रयास ही रहा है। दुर्भाग्य से सत्तासीन लोग भी उसमें सहभागी हो रहे हैं। नई संस्कृति नीति के नाम पर मिली-जुली

संस्कृति को [illegible] जा रही है। इन कुचेष्टाओं के प्रति यदि हम अभी जागरूक नहीं हुए तो इसके गंभीर परिणामों से बच नहीं सकेंगे।

अपने नाम को सार्थक करता हुआ दूरदर्शन भारतीय जनता को बहुत दूर लिये आ रहा है–भारतीयता से दूर, गम्भीर दृष्टिकोण से दूर और बहुसंख्यकों की भावना से दूर है

भारत

[illegible] करने के नाम पर उसका पश्चिमीकरण करने का [illegible] बहुत [illegible] रहा है। भारत के गौरवशाली अतीत की स्मृतियों को सदा के लिए नष्ट करने का षड्यंत्र काफी दिनों से रचा गया है।

भारत के पश्चिमीकरण का यह अंधाधुंध प्रयत्न जिसे भारत सरकार भी बहुत जोरशोर से कर रही है

जो भाषा, जो प्रतीक, जो उपक्रम उस राष्ट्र के मानस को स्पर्श करते हैं, स्पंदित करते हैं वही उसकी हृतंत्री के तार झंकृत कर सकते हैं। अतः राष्ट्रचेतना और राष्ट्रमानस को बिना समझे कोई कितना भी बड़ा विद्वान क्यों न हो वह लोकमानस में कोई स्फुरण उत्पन्न नहीं कर सकता।

वे जब भारत के असली रूप को जानते और समझते ही नहीं तो उसके मानस को क्या समझेंगे और कैसे करेंगे संवाद अपने देश से। वे भारतीय सामाजार्थिक-सांस्कृतिक परिवेश को समझे बिना 'भारतीय मॉडल' का आविष्कार कैसे कर सकेंगे?

यह सहज अपेक्षा थी कि स्वाधीनता के पश्चात भारतीय बुद्धिजीवी एवं राजनेता लोक-मानस एवं लोक चेतना के उत्स एवं मर्म को समझकर देश के प्रगतिपथ का निर्माण करेंगे। पर वैसा हुआ नहीं। क्योंकि वह यह जानते ही नहीं थे कि जब भारतवासी अपने सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन को अपनी प्रतिभा एवं वरीयताओं के अनुसार संचालित करने के लिए स्वाधीन थे तब वह किस प्रकार की जीवनदृष्टि रखते थे? यह कितनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति थी कि अत्यंत सुशिक्षित कहलाने वाले भी स्वाधीन भारत को भारतीय दृष्टि से न देखकर पश्चिमी उपनिवेशवादी दृष्टि से ही देखने का यत्न कर रहे थे। इस दृष्टिकोण के साकार किया। पश्चिम के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन के निर्माण में ईसाई मजहब की भूमिका [illegible] महत्वपूर्ण रही। उन देशों की राजनीतिक, आर्थिक संस्थाओं को [illegible] करने वाली मानसिकता, मूलअवधारणाओं एवं जीवनदृष्टि का विकास जिन मूल्यों पर आधारित रहा उनका उत्स ईसाइयत में मिलेगा। यहां तक कि गोर्बाचेव ने जब रूस में पेरेस्त्रोइका की बात की तब उन्होंने भी यही कहा था कि रूस तो यूरोपीय परिवार (पश्चिमी यूरोप) का ही अंग है; क्योंकि रूस में भी ईसाई-मत उतना ही पुराना और प्रभावी रहा है जितना कि शेष यूरोप में। संक्षेप में मार्क्सवाद पर आधारित सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं की विफलता के बाद रूसी मानसिकता और चेतना को अपने मूल रूप में अभिव्यक्त करने वाला तत्त्व ईसाई मत ही था। अतः उन्हें पश्चिमी यूरोप की सामाजार्थिक संस्थाओं को अंगीकार करने में कोई ज्यादा कठिनाई नहीं होगी।

जो लोग चीन की प्रगति का कुछ निकटता से अध्ययन करते रहे हैं, वे जानते हैं कि वहां के मानस में माओ के देहान्त के बाद १९७८ में एक स्पष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। माओ ने चीन में आर्थिक विकास का स्तालिनवादी मॉडल चलाया था। यह मॉडल चीन की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप तो था ही नहीं चीन के सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के भी अनुकूल नहीं था। अतः चीन ने इस मॉडल को नकार दिया और निर्णय किया कि यदि आर्थिक दृष्टि से प्रगति करनी है तो चीनवासियों की मानसिकता को समझकर उनकी प्रकृति, प्रतिभा एवं आवश्यकताओं के अनुसार नीतियां बनानी होंगी। उन्होंने स्तालिनवादी रास्ता छोड़कर अपना रास्ता ढूंढ लिया और आज उनके सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर बारह प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गई है जो आगामी वर्षों में भी इसी के आस-पास रहेगी।

ऊर्जा का सच्चा परिचय मिल जाएगा।

भले ही आज भारत का अंग्रेजी पढ़ा-लिखा इक्कीसवीं सदी में जाने की बात करता हो, पर भारत के आम आदमी से पूछिएगा तो वह कहेगा कि घोर कलियुग आ गया है। उसका कालबोध शताब्दियों में नहीं, युगों में है। वैसे तो अपने निजी जीवन में अंग्रेजीदां भी युगों में ही काल मापता है पर उसे पता नहीं चलता। जब घर में कोई मंगलकार्य होता है तो पंडितजी संकल्प पढ़ते हैं। उसी संकल्प को यदि कोई समझने की चेष्टा करे तो हमारा कालबोध कितना विस्तृत है झट पता चल जाएगा। संकल्प शुरू होता है: ब्रह्मणो द्वितीय परार्ध श्री श्वेतवाराह कल्पे, सप्तमे वैवस्वत मन्वन्तरे, अष्टाविंशतितमे कलियुगे, कलिप्रथम चरणे, बौद्धावतारे... इत्यादि। यह संकल्प हमारे प्रत्येक पर्व, उत्सव, संस्कार, सबको शुरू करते समय पढ़ा जाता है। इस संकल्प के अनुसार हमारा संदर्भ बिन्दु ब्रह्मणो द्वितीय परार्ध का श्वेतवाराह कल्प है जब वाराह ने पृथ्वी को जल से बाहर निकाला। चलो उतना पुराना समय कौन गिने। थोड़ा कम कर लें। जब मनु ने प्रलय के बाद पुन: सृष्टि की वहीं से शुरू करें तो वैवस्वत मन्वन्तर को संदर्भ मान लें। अब अगर वह भी बहुत लम्बा प्रतीत होता है तो फिर अट्ठाइसवें सतयुग से ही प्रारम्भ कर दें। तब भी हमारा कालबोध लाखों वर्ष पुराना है। हमने मानव की सांस्कृतिक यात्रा का संदर्भ बिन्दु सृष्टि के प्रारम्भ से ही माना है और उस यात्रा में आज हमारी क्या स्थिति है उसे हम नित्य स्मरण करते हैं। तो कहां दो हजार वर्ष पुराना कालबोध और कहां सृष्टि के प्रारंभ से उपजा कालबोध। यदि अट्ठाइसवां सतयुग भी बहुत अधिक लगता हो तो फिर कलि संवत् को ही देख लें। इसलिए भी क्योंकि सामान्य नागरिक की अवधारणा है कि हम कलियुग में रह रहे हैं। तब भी पांच हजार वर्ष पुराना हमारा युगीन कालबोध है।

युगबोध का अर्थ

युगबोध का एक अर्थ है कि भारत युगों में समय की अवधारणा करता है। पश्चिम सदियों में सोचता समझता है और भारत युगों में सांस लेता है। नित्य प्रति का संकल्प पाठ व्यक्ति को सृष्टि से जोड़ता है और सृष्टि को परमेष्ठी से। बीसवीं शताब्दी कहने का अर्थ है कि हमारा कालबोध मात्र दो हजार वर्ष पुराना है। इतिहास को हमने संकुचित कर दिया। इसका एक सहज परिणाम यह होता है कि ईसा पश्चात का इतिहास तो व्यवस्थित है, सूत्रबद्ध है किन्तु ईसापूर्व का इतिहास एक पृथक काल है जिसको सिद्ध करना होगा। उसकी घटनाएं तब ही सार्थक मानी जाएंगी जब ईसा पश्चात की जीवनदृष्टि से उनका तालमेल बैठेगा। इस दृष्टि से वेद गड़रियों के गीत बन जाते हैं और मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम एवं लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण बन जाते हैं मिथक। इस दृष्टि में बाबर यथार्थ है क्योंकि वह ईसा पश्चात है और राम का तो अस्तित्व ही संदेहास्पद हो जाता है। इस कालबोध का साहित्य मिल्टन, शेक्सपियर का साहित्य है; वाल्मीकि एवं वेद- व्यास का नहीं। इस दृष्टि की पाठ्य-पुस्तकों में गणेश साम्प्रदायिक हैं और गधा सेकुलर। वैदिक गणित सर्वथा त्याज्य है और संस्कृत तो है मृत भाषा। एक प्रकार से जो कुछ भारत की अस्मिता के मूल तत्त्व हैं वह सब इस कालबोध द्वारा नकार दिए जाते हैं। इसीलिए हिन्दू को कहा जाता है साम्प्रदायिक और हमारी सारी परम्परा एवं संस्कृति को किया जाता है तिरस्कृत।

भारत को अपना कालबोध ठीक करना होगा। कोई राष्ट्र, कोई समुदाय अपने अतीत से कटकर अपना भविष्य नहीं सुधार सकता।

भारत की भावभूमि से कटे

और हिन्दू समाज

हिन्दुओं को हिन्दुओं से परिवर्तित करता है

भारत के बुद्धिजीवी जब तक विश्व इतिहास का संदर्भ बिन्दु ईस्वी सन् मानते रहेंगे वे अपनी गौरवशाली परम्पराओं से अनभिज्ञ रहेंगे, अपने विशाल ज्ञान भंडार से सर्वथा अपरिचित बने रहेंगे और विश्व रंगमंच पर निष्क्रिय एवं पिछलग्गू बने रहेंगे। वे अपनी समस्याओं का निदान कहीं बाहर खोजते रहेंगे और भारत इसी तरह बेरोजगार, बीमार और कर्जदार बना रहेगा। भारत को न्यूयार्क, लंदन, बॉन, टोक्यो में बैठकर समझने से काम नहीं चलेगा; भारत को भारत की दृष्टि से देखना होगा। वह कालजयी दृष्टि स्पष्ट एवं यथार्थ कालबोध से ही प्राप्त हो सकती है। आज भारत एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक संकट का सामना कर रहा है। उसे निर्णय करना है कि वह अपने कालबोध के अनुसार तीन वर्ष पश्चात् युगाब्द बावनवीं शती में प्रवेश करने की तैयारी करेगा या सात वर्ष पश्चात इक्कीसवीं सदी में जाने का प्रयत्न करेगा?

धर्म

धर्म क्या है?

धर्म में सृष्टि एवं जीवन का एक ऐसा तत्त्व है जिसका विग्रह नहीं बनाया जा सकता। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम को संतों और धर्माचार्यों ने धर्म का साक्षात विग्रह कहा जरूर किन्तु यह केवल इसलिए कि उन्होंने धर्म के अनुरूप जीवन जिया। सृष्टि के उन नियमों का पालन किया जिन्हें ऋषियों ने धर्म कहा था। धर्म की सत्ता है किन्तु वह निराकार है, धर्म निःसंग है, अहर्निश है। धर्म के केवल लक्षण बताए गए कि ऐसा-ऐसा हो और ऐसा-ऐसा किया जाय तो वह धर्माचरण होगा। यह ब्रह्माण्ड और जड़-चेतन की शक्ति में जीवन और प्राण की तरह व्याप्त है किन्तु प्राण और जीवन की तरह ही उसका भी केवल अनुभव ही किया जा सकता है, देखा नहीं जा सकता। दिखाई देती है केवल, शरीर की क्रिया। अभी तक किसी ने भी जीवन एवं प्राण का विग्रह नहीं देखा और न कोई उनकी प्रतिमा ही गढ़ पाया।

जो कुछ धर्म के नाम पर गढ़ा गया, वह सब केवल कर्मकाण्ड है- धर्मानुसार जीवन यापन करने की व्यवस्था मात्र। जप-तप, पूजा-पाठ, देव-देवालय, श्लोक-स्तुति, मंत्र, कीर्तन, कथा आदि मनुष्य को धर्मानुरागी बनाने के उपाय हैं। ये केवल सत् संस्कार प्रदान करने और ग्रहण करने की प्रक्रियाएं हैं।

हमारे देश में ही नहीं समस्त संसार में राजनीति का ही नहीं जीवन के लिए आवश्यक समस्त वस्तुओं और व्यवस्थाओं का धर्म बताया गया है। राजनीति का तो धर्म है; किन्तु धर्म की कोई राजनीति नहीं है। आग का धर्म है, जल का धर्म है, वायु का धर्म है, धरती का धर्म है, आकाश का धर्म है, पिता का धर्म है, पत्नी का धर्म है, स्त्री का धर्म है, माता का धर्म है, पुत्र का धर्म है, बहन का धर्म है, नाना-नानी का धर्म है, चाचा-ताऊ, राजा-प्रजा सबका धर्म है लेकिन धर्म का कोई माता-पिता नहीं है। वह अग्नि नहीं अग्नि का ताप है, जल नहीं जल की शीतलता है, वायु नहीं, वायु की निःसंग गति है, धरती का धैर्य है, आकाश की शब्द ध्वनि है, पिता की पालक प्रवृति और माता का वात्सल्य है। पुत्र की पितृ और मातृ भक्ति है, नाना-नानी, ताऊ-चाचा का अदृश्य सम्बंध सूत्र है, इन सबको देखा नहीं, केवल अनुभव किया जा सकता है।

धर्म जड़-चेतन में श्वास, रक्त, मांस, प्राण और जीवन की तरह रचा-बसा है, किन्तु अदृश्य है। मनुष्य ने सृष्टि कर्त्ता और परमेश्वर की भी प्रतिमा बनायी है, भक्तों ने भगवान का सशरीर दर्शन करने का दावा किया है, किन्तु कोई कलाकार, कल्पनाशील व्यक्ति, त्यागी, तपस्वी और जीवन का रहस्य जान लेने वाला कोई ज्ञानी अभी तक धर्म का लक्षण वर्णन करने से आगे नहीं बढ़ पाया।

[illegible] की स्थापना भी की गई, किन्तु धर्म सदा से भौतिकता नहीं केवल भाव साधक ही रहता आया है। धर्म-अधर्म की पहचान आचरण से की गई, की जाती है, उसकी प्रतिमा से नहीं। भगवान की आराधना करना भक्त का धर्म है लेकिन भगवान न धर्म है और न धर्म का कोई भगवान। भगवान को भी धर्म के अनुरूप आचरण करना पड़ता है।

योगेश्वर श्री कृष्ण ने अर्जुन को उनका धर्म-कर्म तो बताया, किन्तु उन्हें धर्म दर्शन नहीं करा सके। धर्म-कर्म के बीच अन्योन्याश्रित सम्बंध है। वह ऐसे कर्मों के रथ पर सवार होकर अपना कार्य करता है, जिसके घोड़ों की लगाम श्री कृष्ण जैसे श्रेष्ठ पुरुषों के हाथ में होती है। वह परंतप अर्जुन के रूप में समर भूमि में उतरता है। वह श्रीराम, श्रीकृष्ण, गौतम बुद्ध, महावीर, आद्य आदि विभिन्न प्रेरणा-पुरुषों, त्यागियों, तपस्वियों के आचरण से अभिव्यक्त होता है।

धर्म से न कोई अछूता है और न कोई धर्ममुक्त हो सकता है। धर्म-हीन होने का अर्थ है मृत्यु। संसार का श्मशान बन जाना। श्मशान का भी अपने धर्म से वंचित और विहीन हो जाना। श्मशान का धर्म है वहां शव जलाए जाएं और वह [illegible] चिताओं का ताप सहर्ष सह[illegible]। जब जीवन से मृत्यु तक, सृष्टिकर्ता ने सृष्टि तक, कोई भी धर्म निरपेक्ष होकर नहीं रह सकता, जब परमशक्तिमान श्री परमेश्वर का भी अस्तित्व धर्म में ही है तो कोई भौतिक और राजनीतिक सत्ता धर्म-निरपेक्ष होकर रह ही नहीं सकती।

हमारे ऋषियों ने धर्म को परिभाषित करने और प्रत्येक खास एवं आम आदमी को उसका धर्म बताने के लिए अनेक श्लोक ही नहीं वेद, उपनिषद, स्मृति आदि अनेक ग्रंथ भी हैं। किन्तु तुलसी ने 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई,' कहकर धर्म की जो पहचान प्रस्तुत की वैसी और कोई नहीं कर सका।

हिन्दू धर्म में रचनाधर्मिता और धारण शक्ति है ही जो सामाजिक पुनर्रचना करती है। अतएव हमें, हम भारत के लोगों को अपने समाज की और देश की पुनर्रचना करनी है, मनुष्य और समाज को उसके समाज, राष्ट्र विश्व और ब्रह्माण्ड के धर्म से जोड़ा जाना है तो यह कार्य राजनीति और सत्ता-निरपेक्ष होकर ही कर पाना संभव होगा। समाज रचना का आधार राजसत्ता नहीं धर्म सत्ता हो सकती है।

हिन्दुस्थान के धर्म की यही अवधारणा और भूमिका निश्चित की गई है। इसमें सभी पंथों, विचार सम्प्रदायों और कर्मकाण्डों के लिए सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। सभी को अपनी-अपनी रुचि प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुरूप अपना-अपना कर्मकाण्ड और अपने आराध्य की आराधना करने की पद्धति का निर्माण और उसे स्वीकार करने की स्वतंत्रता है। इस स्वतंत्रता को क्षति पहुंचाने या किसी पर अपनी पद्धति और विचार को बलपूर्वक थोपने की छूट हिन्दुस्थान में नहीं है। यहां विचारों का आदान-प्रदान, विचार मंथन और शास्त्रार्थ मान्य है; किन्तु दुराग्रह और मजहबी आक्रमण पूरी तरह अमान्य।

जिस जीवन दर्शन, जिस धर्म दृष्टि और जिस वांग्मय को दूसरों ने हिन्दू संज्ञा प्रदान की है, जिसमें से सर्व समवेशी हिन्दुत्व का उद्‌भव हुआ है, जिस हिन्दुत्व ने सर्वप्रथम सनातन धर्म का साक्षात्कार किया है, वह हिन्दुत्व पंथ और सम्प्रदाय-निरपेक्ष तो हो सकता है और है भी, किन्तु धर्म निरपेक्ष नहीं हो सकता। वहीं हिन्दुत्व हिन्दुस्थान की देशभूमि पर राष्ट्र के रूप में स्थित है। हिन्दुत्व को सम्प्रदाय, मजहब और पंथ मानने वाले लोगों ने ही विकृत धर्म-निरपेक्षता की आड़ में हिन्दुत्व विरोधी अभियान चला रखा है

विदेशी तथा असामाजिक तत्त्व भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा समाज व्यवस्था को तहस-नहस करने पर तुले हुए हैं। भारतीय संस्कृति को पूर्णतया विकृत करने पर तुले हुए हैं

धर्म और कर्मकाण्ड

धर्म के धारक और धारणा सम्बंधी उसके लक्षणों का कोई महत्त्व नहीं है। संपूर्ण सृष्टि और चेतन सत्ता के शरीर में रक्तवत व्याप्त जीवन की धारणा शक्ति को ये मजहब, कर्मकाण्ड, व्रत, पूजा, तिलक, कण्ठी, माला, मन्दिर के कीर्तन, मस्जिद की अजान, और गिरजाघर की घंटियों की आवाज में देखते-सुनते और उसे ही धर्म मानते हैं। जबकि धर्म एक ऐसा वैश्विक नियम और सृष्टि की सहज प्रकृति एवं प्रवृत्ति है जो किसी देश या जाति विशेष तक सीमित नहीं है। विभिन्न देशों की जातियों के आचरणों और आदर्शों, जीवन के नियमन, दर्शन, साहित्य और वांग्मय को किसी जाति विशेष से जोड़कर उसे ईसाई, इस्लाम, यहूदी, पारसी, धर्म आदि की दी गई संज्ञाओं को ही धर्म मानने की भूल की गई तो धर्म की अखण्ड, सनातन और अव्यक्त, विग्रहमुक्त अनुभूति आकार धारण करने लगी। धर्म को आकार दिया गया तो विभिन्न आकारों में प्रतिस्पर्धा और टकराव होनी ही थी। अपनी-अपनी संज्ञा को श्रेष्ठ सिद्ध करने की होड़ लगी तो धर्म के धारक तत्त्व और उसकी धारणा शक्ति सम्प्रदाय की बन्दी बन गई। मैं ही सत्य और मेरा सम्प्रदाय ही सत्यमार्ग का एकमेव प्रवर्तक है, की मानसिकता ने धर्म को समुदाय और क्षेत्र का प्रतिनिधि बनाया। हिन्दू धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जो अपने अन्दर विज्ञान के आविष्कारों और दर्शनशास्त्र के चिन्तनों का पूर्वाभास देकर और उन्हें आत्मसात करके जड़ता और जड़वाद पर विजय प्राप्त कर सकता है। यही वह धर्म है जो मानव जाति के दिल में यह बात बिठा देता है कि "भगवान हमारे निकट हैं। यह उन सभी साधनों को अपने अन्दर ले लेता है जिनके द्वारा मनुष्य भगवान तक पहुंच सकता है। यही वह धर्म है जो प्रत्येक क्षण सभी पंथों और मजहबों द्वारा मान्य इस सत्य पर बल देता है कि भगवान हर आदमी और हर वस्तु में हैं। हम उन्हीं में चलते-फिरते हैं और उन्हीं में निवास करते हैं।

हिन्दू धर्म क्या है?

व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण जीवन में हर व्यक्ति व्यक्तिवादी है। समष्टि का, समाज का विचार करने को तैयार नहीं है

यह अहं भाव व्यक्तिवाद का ही पर्याय है, किसी व्यक्ति के लिए केवल व्यक्ति के हित का विचार करके जो कर्म होता है, वह अधर्म है, शैतान का काम है। समाज या राष्ट्र का विचार करके किया गया धर्म धर्म है। समष्टिवाद ही धर्म है आज भी यह विचार प्रासंगिक है- आगे भी रहेगा। सम्पूर्ण समाज में यही एक भाव पैदा हो जाय तो बाकी की और चीजें ठीक हो सकती हैं। यदि इस भाव का विलोप हो गया तो बाकी की और चीजें बेकार हो जायेंगी।

धर्म-अधर्म की यह व्याख्या यदि सामने रहे तो 'गीता' ज्ञान का मर्म अर्थात उसका कर्मयोग हम भली-भांति समझ सकेंगे और 'योगकर्म-कौशल्य का नाम है' (योगः कर्म सुकौशलं) का अर्थ भी सहज बोधगम्य होगा।

भाग्यवादी भारतीय

जब आदमी स्वस्थ न हो तो डाक्टर को ढूंढता है और जब आदमी अपने सोचे-समझे कार्य पूर्ण करने के प्रत्येक हर संभव प्रयास में असफल रहता है तो स्वयं में ही गलतियां व कमज़ोरियां ढूंढने की बजाय अपनी तकदीर को कोसता है। ताकत के बादशाहों व यौन-विशेषज्ञों की तरह ज्योतिष-शास्त्री भी अब दिन-प्रतिदिन फल-फूल रहे है। किसी भी ज्ञान का

गुप्त होना शोषण करने में सहायक होता है। यौन समस्या हो या मनवांछित लाभ की इच्छा के मारक कोची मनसूबे, आदमी मन ही मन में छुपाये रख कर इसे लगभग मनोवैज्ञानिक समस्या बना लेता है। बेटे की शादी, काम-धंधे में रुकावट, संतान पैदा न होना, डाक्टर हो या ज्योतिषी आदमी सब जगह हाथ-पांव मारता है। आम आदमी के आम डाक्टर और ज्योतिषी होते है। जब कोई व्यक्ति अपने की आंतरिक एकता में अतीत और भविष्य के बीच जुड़ा हुआ पाता है, तब ज्योतिष, धर्म व अध्यात्म को समझ पाता है। विज्ञान के युग में ज्योतिष तकदीरवादी होने की निशानी है। तदबीरवादी विज्ञान से तकदीरें बदल देते है। ज्योतिष झूठ नहीं मगर भाग्यवादी बनना मूर्खता है, जो इस देश के नेता व अभिनेता तक कर रहे है।

18

अधर्म के साथ धर्म का युद्ध

स्वाधीनता के कई संघर्ष हुए। सब में धर्म का सहयोग रहा। स्वतंत्र होने के बाद भी वेद, उपनिषद के वाक्य, महाभारत, रामायण के वाक्य और पौराणिक नाम नये चिह्नों और आविष्कारों को देने का सिलसिला चला। उनमें से किसी भी काम से लौकिकता क्षत नहीं हुई, क्योंकि लौकिकता का और धर्म का विरोध नहीं है। पर सोचने की बात है कि कौन से कारण उपस्थित हो गये कि धर्म लौकिकता के आड़े आने लगा और लौकिक होने के लिए धर्म से नाता तोड़ना आवश्यक हो गया। एक शब्द का गलत अनुवाद कभी-कभी भाषा ही नहीं देश की मानसिकता बदल देता है। इसका सबसे जाज्वल्यमान उदाहरण 'रिलीजन' का 'धर्म' अनुवाद है। रिलीजन के लिए हिन्दी समाचारपत्रों में पहले 'मत' या 'पंथ' का प्रयोग होता था, 'धर्म' का नहीं। धर्म का अर्थ लोगों के मन में सच्चाई, अहिंसा, करुणा और परस्पर प्रेम जैसे मूल्यों से जुड़ा हुआ था। गांव का आदमी भी उसी रूप में धर्म की बात करता था। धर्म का एक रूप उपासना पद्धति में प्रस्फुटित होता है, वहीं उसका दूसरा समानान्तर रूप रहन-सहन और लोक व्यवहार में भी प्रस्फुटित होता है। जब समग्र धर्म को हीनतर बना दिया जाता है तो उससे रहन-सहन, उपासना पद्धति और सर्जनात्मकता भी प्रभावित हो जाती है। जहाँ धर्म मूल्य था वहाँ धर्म सौदा हो गया है। जहाँ आदमी धर्म के भाव से बांटकर खाता था, वहाँ खुदगर्ज हो गया है। जहाँ धर्म के भाव से आदमी पेड़ नहीं काटता था, नदी किनारे गन्दगी नहीं फैलाता था, साबुन लगा कर नदी में स्नान नहीं करता था, वहीं अब नदी के साथ कोई रिश्ता ही नहीं रह गया है। जहाँ आदमी गांव की बेटी को अपनी बेटी मानता था, वहीं अब केवल स्त्री-पुरुष संबंध रह गया है। जहाँ आदमी तीर्थयात्रा करते समय धर्म के ही भाव से अत्यन्त अकिंचन बन कर निकलता था, वहीं अब तीर्थयात्रा भी मौजमस्ती हो गयी है। जहाँ हिमशिखर की तलहटी, अरण्यप्रान्तर, सागर के तीर की ध्यान के लिए उपयुक्तता थी, वहीं अब ये सभी स्थान भोग के केन्द्र बन गये हैं और भोग के कचरों से पट गये हैं।

पारिवारिक भावना का ह्रास अपनी ही छोटी-सी अस्मिता को परिवार भाव में एकात्म, गांव, जनपद और देश को जोड़ने वाले धर्म के स्थान पर छोटे-छोटे अहंकारों के दुर्ग बन गये हैं। चाहे जाति के रूप में हों, सम्प्रदाय के रूप में हों, वर्ग के रूप में या और किसी रूप में हो। धर्म ने जिस सर्वहित की बात चलायी और सबके कल्याण में अपने कल्याण और सबके सुख में अपना सुख और सबके दुख में अपना दुख मानने की परम्परा चलायी थी, उसके स्थान पर एक ऐसी विकास दृष्टि आ गयी है, जो केवल अपने सुख और अपने दुख की ही चिन्ता करते हैं। दूसरे की चिन्ता का वे केवल स्वांग करते हैं।

वह मनुष्य का स्वभाव है, वह मनुष्य का ही नहीं समस्त सृष्टि का स्वभाव है, जिसके कारण परस्पर विरोधी दिखने वाले पदार्थों और तत्वों का साथ रहना संभव होता है। उस आधार को छेड़ने पर जीवन का प्रत्येक क्षेत्र विकृत होने लगता है। धर्म संस्कार के रूप में लोक में रहता है और लोक बीच-बीच में अधर्म करते हुए भी धर्म को भूल नहीं पाते। अधर्म का पछतावा कभी न कभी होता ही है, विशेष रूप से जीवन की लीला समेटने से पहले। इसलिए ललोक कितना भी गिरा हुआ क्यों न हो, जब उसको निर्णय का ऐसा अवसर मिलता है कि वह अधर्म का प्रतिकार कर सकेगा तो वह प्रतिकार करता है, धर्म की प्रतिष्ठा चाहे न करे। भारतवर्ष कुछ नैतिक मूल्यों के लिए जो आजकल धर्म के स्थान पर अधिक प्रयुक्त होते हैं, हमेशा उन्हें नकार देता है, जिनके बारे में उसे संदेह होता है कि यह कहीं धर्म के मार्ग से च्युत है। रिलीजन शब्द से केवल अंग्रेजी जानने वाले परिचित हैं और रिलीजन भी अपने आप में कोई अपराध नहीं है। वह सही ढंग से आचरित हो तो मनुष्य को भीतरी ताकत देता है और भिन्न रिलीजन मानने वालों के प्रति भी इस आधार पर आस्था भाव देता है कि जैसे हमारे लिए हमारा तौरतरीका सही है, हमारी माँ प्रिय है, हमारे बच्चे प्रिय हैं, उसी तरह दूसरे को भी अपने परम्पराप्राप्त तरीके प्रिय होते हैं, माँ प्रिय होती है, बच्चे प्रिय होते हैं। सही तरीके से की जाने वाली उपासना पद्धति जब गहराई में पहुँचती है, तो मनुष्य की सीमा अपने आप टूट जाती है। उस अनुभव के स्तर पर कोई व्यक्ति हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई नहीं रह पाता, भले ही वह हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई पद्धतियों से इस भूमि तक पहुँचता हो।

यह कहा जा सकता है कि कोई भी उपासना पद्धति न स्वीकार करने वाला व्यक्ति भी मूल्यों का साधक हो सकता है, पर उससे भी अपेक्षा की जाती है कि वह इतना उदार भाव रखे कि जो उसकी तरह अविश्वासी नहीं है वह भी मनुष्य है

और यह भी विश्वसनीय है। ऐसा बने जिसमें विश्वास करने पर सबकी सुरक्षा न हो तो यह हिन्दुस्तान के ही संदर्भ में नहीं समस्त विश्व के संदर्भ में एक बहुत बड़ी त्रासदी होगी। जिन्होंने ऐसा करने का प्रयास किया, उनका क्या हश्र हुआ, यह बताने की जरूरत नहीं है। धर्म ही आस्तिकता और नास्तिकता दोनों को जोड़ता है, जैसे नाम सगुण और निर्गुण को जोड़ता है, जैसे योग विभिन्न उपासना पद्धतियों को जोड़ता है, जैसे राग सबको जोड़ता है। यह जोड़ने वाली बातें हमारी राष्ट्रीय चेतना के कर्णधारों ने बार-बार की। लोकमान्य तिलक ने गणेशोत्सव के द्वारा सामान्य और विशेष को जोड़ा, गणेश को सामष्टि चेतना के देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया और गणेशोत्सव जनजागरण का साधन बना। मालवीय जी ने भागवत को लोगों को जोड़ने का साधन बनाया, महात्मा गाँधी ने रामधुन को साधन बनाया। ये सभी धार्मिक थे। जब यह सार्थक नहीं हो कर औपचारिक हो गया और औपचारिक होकर व्यावसायिक हो गया, तब उनका प्रभाव घटा। गहराई में न जाने वाले लोगों ने इसको धर्म का अपराध माना। उस प्रवृत्ति को अपराध नहीं माना जो पवित्र से पवित्र को अपवित्र और सुन्दर से सुन्दर को भोग्य बना कर कुत्सित कर देता है। कभी-कभी सन्निहित लाभ दूरगामी हानि की चिन्ता नहीं करता।

आज भी शायद यही हो रहा है। अधर्म का स्वभाव ही यही है वह बिजली की गति से चढ़ता चला जाता है, उसे दूरगामी विनाश की चिन्ता नहीं होती, जबकि धर्म विवेक का प्रयोग करने के लिए विवश करता है और सन्मार्ग पर जो मिलता है, उसको विपुल बना कर के रख देता है।

सोचने की बात यह है कि हमारे राजनेताओं को जीवन के छंद बने धर्म को रस्साकशी का रस्सा बनाने में क्यों मजा आ रहा है। चाहे धर्म की रक्षा की बात हो या धर्म को हटाने की बात, दोनों ही बिलकुल अप्रासंगिक हैं। धर्म तो अपने आप अपनी रक्षा करता है और जो धर्म को मारने चलता है, वही आहत होता है— 'धर्म एव हतो हन्ति'। आपस में विवाद के लिए लोक कल्याण के बहुत सारे मुद्दे हैं।

राज्य लोक कल्याण के लिए है और ऐसे कल्याण के लिए है जो प्रत्यक्ष दिखायी पड़े। वह परमार्थ का विकास नहीं करता। परमार्थ का विकास व्यक्ति ही करता है। राज्य को ऐसा तो नहीं होना चाहिए कि वह परमार्थ के विकास की संभावना ही समाप्त कर दे। तुमुल कोलाहल कलह में हृदय की बात ही कहीं न चुक जाये, यह शंका आज उपस्थित हो रही है। जाति, भाषा, क्षेत्र जैसे विभाजक भाव क्षम्य और धर्म अक्षम्य यह बात भी तथाकथित एकता की सिद्धि में बाधक ही लगती है। सभी प्रकार के विद्वेषों का सामना करने के लिए

काम चलेगा तो धर्म के भाव के व्यापक प्रसार से और असली और नकली धर्म का विवेक रखने से।

राजनीति के क्षेत्र में जो हो रहा है, उसकी चर्चा करते हुए लज्जा आती है। स्वयं नकली धार्मिकता का ढोंग करते हुए एक तरह से धर्म के नाम पर अपनी प्रतिमा, अपनी छवि सुधारते हैं और दूसरी ओर उन्हें धर्म ही के कारण अपनी सत्ता छिनती जान पड़ती है।

धर्म के वास्तविक अर्थ से अवगत होना अनिवार्यतः अभिवांछित है। प्राचीन भारतीय ग्रंथ मनुस्मृति में धर्म की व्याख्या करते हुए धैर्य, क्षमा, दम (मन पर नियंत्रण) अस्तेय (दूसरे का कुछ नहीं लेना), पवित्रता, इन्द्रियों पर नियंत्रण, बुद्धि-विवेक, विद्या, सत्य तथा क्रोध का अभाव, यह धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं।

अन्य हिन्दू धर्म ग्रन्थों में भी विभिन्न शब्दावलियों में धर्म को इसी रूप में परिभाषित किया गया है। उदाहरणार्थ गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने दैवी सम्पदा से विभूषित मनुष्यों में अभय, सत्व, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, अहिंसा, शांति, दया, क्षमा तथा धैर्य आदि जैसे 24 लक्षण गिनाये हैं।

परन्तु प्राचीन भारतीय सिद्धान्त निर्मातागण इस तथ्य से भलीभांति अवगत थे कि धर्म के उपर्युक्त लक्षण आदर्श होते हुए भी परिस्थिति विशेष में अनुकरणीय नहीं भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ महाभारत में एक कथा उल्लिखित है कि आजन्म 'सत्य' बोलने वाले महात्मा को मरणोपरांत घोर नरक की गति मिली। ऐसा इसलिए हुआ कि एक दिन किसी निर्दोष व्यक्ति ने एक दुष्ट हत्यारे से बचने के लिये उस सत्यवादी पुरुष के यहां शरण ले ली थी। जब दुष्ट हत्यारा उस निर्दोष व्यक्ति की खोज में सत्याव्रती के पास पहुंचा तो सत्य के वास्तविक अर्थ से अवगत न होने के फलस्वरूप उन्होंने हत्यारे को अपने शरणागत व्यक्ति की जानकारी दे दी। फलतः दुष्ट ने तत्काल निर्दोष की हत्या कर दी।

अतएव प्राच्य भारतीय दर्शन में धर्म-अधर्म के निर्णय की कसौटी यह बनायी गई है कि जिस कार्य से दूसरों का हित हो वह धर्म है तथा जिस कार्य का अंतिम परिणाम दूसरों की पीड़ा हो, वह अधर्म है। अटठारह पुराणों के रचयिता, महर्षि वेदव्यास के अनुसार समस्त पुराणों का सारांश यही है कि 'परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीड़नम्'—परोपकार पुण्य तथा परपीड़ा पाप है। महाकवि तुलसी ने भी इस तथ्य को दोहराते हुए उद्घोष किया 'परहित सरस धरम नही माई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई।'

उपर्युक्त दृष्टि से धर्म को देखने पर राष्ट्र-निर्माण में धर्म की महत्ती भूमिका स्वतः स्पष्ट हो जाती है। चूंकि धर्म संयमित एवं सुसंस्कृत बनकर हमें परहित की ओर अग्रसर करता है, अतः इससे राष्ट्र के निवासियों के मध्य सौहार्द की भावना बलवती होती है तथा राष्ट्र बलशाली होता है। तभी तो धर्म को संसार का धारण करने वाला (धर्मों धारयति प्रजाः) तथा इसके अनुसरण से व्यक्ति की रक्षा (धर्मों रक्षति रक्षितः) की बात कही गई है।

भारत जिसे कहते हैं वह किन्हीं भौगोलिक सीमा-रेखाओं, किसी भूखंड विशेष, किन्हीं पर्वतों, नदियों, झरनों का ही नाम नहीं है बल्कि वह एक आध्यात्मिक संस्कृति का भी द्योतक है। 'भायाम् रतम् भारतं।' भारत दो शब्दों 'भा+रत' से मिलकर बना है। 'भा' का अर्थ है आभा (प्रकाश) और 'रत' का अर्थ है संलग्न। अर्थात् जो देश प्रकाश की साधना में संलग्न रहा है उसी का नाम भारत है। प्रकाश ही ज्ञान, प्रकाश ही जागरण, प्रकाश ही धर्म, प्रकाश ही आनन्द और प्रकाश ही मोक्ष है। इसीलिए तो बहुत पहले यहां से उद्घोष हुआ था। 'असतो मा सद्गमय', तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माअमृतमगमय असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर जिसने चिरकाल से यात्रा की है, उसी का नाम भारत है।

इस महायात्रा में जो चार पड़ाव पड़ते हैं उन्हें हमारे ऋषियों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों के रूप में व्याख्यायित किया है। इन चार पुरुषार्थों के माध्यम से हमारे ऋषियों ने आध्यात्मिक और भौतिक जीवन में जो संतुलन, जो सामंजस्य स्थापित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। काम और अर्थ भौतिक जीवन के पुरुषार्थ हैं। धर्म और मोक्ष आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य हैं। चारों पुरुषार्थों में धर्म को सर्वप्रथम स्थान देकर हमारे ऋषियों ने काम और अर्थ को भी जो धर्माश्रित किया है वो इसलिए कि-

'धर्ममूलः सदाग्राह्यी कामोऽर्थफलमुच्यते,
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिः मोक्ष उच्यते।'

धर्म का अर्थ है 'धारयेति इति धर्म' जो व्यक्ति को समाज को सम्पूर्ण सृष्टि को धारण करता है उसी का नाम धर्म है। पदार्थ की खोज में जो स्थान विज्ञान का है, आत्मा की खोज में वही स्थान धर्म का है। धर्म एक अनुभूति है, जागृति है-आत्म परिचय है। धर्म के कारण ही व्यक्ति की, समाज की, सृष्टि की, सम्पूर्ण ब्रह्मांड की सत्ता है। अग्नि का धर्म जलाना है वायु का धर्म चलना है, जल का धर्म आर्द्र करना है, मिट्टी का धर्म आकृति ग्रहण करना है, आंतरिक्ष का धर्म सबको अपने में समोहित कर लेना है। यदि प्रकृति के पंचमहाभूत अपना-अपना धर्म त्याग दें तो सृष्टि

एक दिन भी नहीं चल सकेगी। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र सभी अपने-अपने धर्म का पालन कर रहे हैं। यह क्रम अनादि है, अनन्त है। धर्म अस्तित्व का प्राण है। वह परमात्मा का उपनाम है-इसीलिए तो गीता में कहा गया है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'।

मनुष्य जो पशुओं से अलग अपनी सत्ता बनाये हुए है, वह भी उन्हीं मूल्यों के कारण जिनको सदा से धर्म ने अलंकृत किया है। आहार, मैथुन, निद्रा यह सभी वृत्तियां पशुओं में भी पायी जाती हैं और इन्हीं से वे संचालित भी होते हैं, लेकिन मनुष्य में इनसे इतर करुणा, प्रेम, क्षमा, दया, त्याग, स्नेह, सहानुभूति आदि वे गुण भी पाये जाते हैं जो उसे पशु श्रेणी से अलग करते हैं इसके कारण ही तो मनुष्य मनुष्य है-सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी।

सैद्धान्तिक अर्थ में धर्म जीवन के सारे पहलुओं का प्रेरक तत्त्व है। धर्म जीवन को लक्ष्य व दिशा प्रदान करता है। धर्मात्मा केवल ईश्वरोन्मुखी ही नहीं होता, उसका आचरण हर क्षेत्र में आदर्श रहता है। दूसरे शब्दों में धर्म सुबह-शाम, घण्टा आध-घण्टा किस पूजा में बताया जाता है उससे परिलक्षित या परिपूर्ण नहीं होता। "आचरणात धर्म' के अनुसार मनुष्य की सारी अभिव्यक्तियों में धर्म दिखाई देना चाहिए। "स्थित धी किम् प्रभाषेत—किमासीत-व्रजेत किम्" लोग यह जानना चाहते हैं कि धर्मवान कैसे बोलता है? कैसे बैठता है? कैसे चलता है? शास्त्रों में एक धर्ममेघ समाधि का जिक्र है जिसमें लीन पुरुष से कभी कोई त्रुटि नहीं होती। गीता में इस प्रकार के व्यक्ति के गुणों का विस्तृत तथा विविध प्रकार से वर्णन किया गया है। वास्तव में धर्म सम्पूर्णता के साथ ग्रहण करने की वस्तु है। कहीं ऐसा नहीं पढ़ा या सुना कि अमुक व्यक्ति आधा धर्मात्मा और आधा पापात्मा था। यह वह रंग है जिसमें डूबने पर फिर कोई और रंग नहीं चढ़ता या जो समस्त रंगों का समन्वय होकर शुद्ध धवल है या समस्त रंगों के अभाव स्वरूप कृष्ण वर्ण है। बिहारी के शब्दों में इसमें—

"अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग" धर्मभ्रष्ट या योगभ्रष्ट "न खुदा ही मिला न बिसाले सनम" की गति पाकर वायु के वेग से जैसे बादल

छिन्न-भिन्न हो जाते हैं उस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। अंग्रेजी में भी कहा है। "इस झरने से भरपेट पियो केवल एक दो घूंट चखकर ही मत छोड़ दो।"

यह तो हुआ धर्म का सैद्धान्तिक पक्ष। धर्म की सही परिभाषा है, "वह तत्त्व जिससे अस्तित्व या स्वत्व की स्थिति है।" अर्थात् वह जीवन की कुंजी है। इसमें मिश्रण या आधा अधूरापन की गुंजाइश नहीं है। धर्म के व्यावहारिक पक्ष में आते हैं नैतिकता, साधना, विश्वास तथा सम-सामाजिकता। भारतीय शास्त्रों ने नैतिकता को यम व नियम कहा है। पांच बाह्य अनुशासन तथा पांच आन्तरिक या मन के अनुशासन। साधना में—योग, तंत्र, प्रार्थना, अर्चना, स्तुति, पूजा व ध्यान आदि सम्मिलित हैं। विश्वास अनुभव जन्य होता है और विपरीत श्रवण से नहीं डिगता। सबसे बड़ा व्यावहारिक अंग है सामाजिकता में समभाव: जो आगे चलकर विश्व बंधुत्व और समाजवाद का आधार बना।

धर्म और समाजः- आजकल कुछ लोग सोचने लगे हैं कि धर्म बिल्कुल वैयक्तिक वस्तु है तथा इसका समाज की गतिविधियों से केवल परोक्ष सम्बन्ध है। किंतु ऐसा सोचना त्रुटिपूर्ण है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसकी सबसे सबल धारणा का स्वरूप जितना वैयक्तिक होगा उतना ही सामाजिक भी होगा। धर्म मनुष्य के गुफाकालीन युग का या एकान्त का साथी नहीं है वह अन्य लोगों के साथ उसके सम्बन्धों की समस्त रूपरेखा भी निर्धारित करता है। व्यक्तिगत साधना व पूजा के भी यज्ञ व धार्मिक उत्सव आदि सामूहिक पक्ष हैं तथा नैतिकता का तो आधार तथा कार्यक्षेत्र ही सामाजिक जीवन है।

उपयोगिता का आधार अत्यन्त संकीर्ण है। सारे प्रचलित सामाजिक नियमों की रचना तो समाज की तात्कालिक स्थिति को दृष्टि में रखकर की गई है। किंतु उपयोगितावादियों को यह सोचने का क्या अधिकार है कि यह समाज शाश्वत है। कभी ऐसा भी समय था जब समाज नहीं था, और ऐसा भी समय आयेगा, जब यह नहीं रहेगा। यह तो शायद मनुष्य की प्रगति के क्रम में एक ऐसा स्थल है, जिससे होकर उसे विकास के उच्चतर स्तरों तक जाना है। और इस तरह कोई भी नियम जो मात्र समाज पर आधारित है, शाश्वत नहीं हो सकता, मानव-प्रकृति को पूर्णरूपेण आच्छादित नहीं कर सकता। अधिक से अधिक वह उपयोगितावादी नियम समाज की वर्तमान स्थिति में काम कर सकता है। इसके आगे इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। किंतु धर्म तथा आध्यात्मिकता पर आधारित नीतिशास्त्र का क्षेत्र असीम मनुष्य है। वह व्यक्ति को लेता है, पर उसके

संबंध असीम हैं। वह समाज को भी लेता है, क्योंकि समाज व्यक्तियों के समूह का ही नाम है ; इसलिए जिस प्रकार यह नियम व्यक्ति और उसके शाश्वत सम्बन्धों पर लागू होता है, ठीक उसी प्रकार समाज पर भी लागू होता है,—समाज की स्थिति या दशा किसी समय-विशेष में जो भी हो। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य को सदैव आध्यात्मिक धर्म की आवश्यकता पड़ती रहेगी। वह हमेशा भौतिक जगत् में ही लिप्त नहीं रह सकता, उसे कितना भी आनन्ददायक क्यों न लगे।

ऐसा कहा जाता है कि अधिक आध्यात्मिक होने पर सांसारिक व्यवहारों में कठिनाईयां हो सकती हैं। कन्फ्यूशस के युग में ही कहा गया था कि 'पहले हम इस संसार की चिंता करें और जब इससे छुट्टी मिले, तो दूसरे लोकों की चर्चा करें।' इस लोक की चिन्ता करना बड़ा अच्छा है। पर अगर अधिक आध्यात्मिक से हमारे लोकाचार में थोड़ी गड़बड़ी होती है, तो सांसारिकता पर अत्यधिक ध्यान देने से तो इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जायेंगे। सांसारिकता हमें पूर्णतः भौतिकवादी बनाकर छोड़ेगी। मनुष्य का उद्देश्य 'प्रकृति' नहीं है,—वरन् कुछ उससे ऊपर की वस्तु है।

'मनुष्य तभी तक मनुष्य कहा जा सकता है, जब तक वह प्रकृति से ऊपर उठने के लिए संग्राम करता है।' और यह प्रकृति ब्राह्य और आन्तरिक दोनों है। इस प्रकृति के भीतर केवल वे ही नियम नहीं हैं, जिनसे हमारे शरीर के तथा उसके बाहर के परमाणु नियंत्रित होते हैं, वरन् ऐसे सूक्ष्म नियम भी हैं, जो वस्तुतः ब्राह्य प्रकृति को संचालित करने वाली अंतस्थ प्रकृति का नियमन करते हैं। ब्राह्य प्रकृति को जीत लेना कितना अच्छा है, कितना भव्य है। पर उससे असंख्य गुना अच्छा और भव्य है अभ्यंतर प्रकृति पर विजय पाना। ग्रहों पर नक्षत्रों का नियंत्रण करने वाले नियमों को जान लेना बहुत अच्छा और गरिमामय है। उससे अनन्त गुना अच्छा और भव्य है, उन नियमों को जानना, जिनसे मनुष्य के मनोवेग, भावनाएँ और इच्छाएँ नियंत्रित होती हैं। इस आन्तरिक मनुष्य पर विजय पाना, मानव मन की जटिल सूक्ष्म क्रियाओं के रहस्य को समझना, पूर्णतया धर्म के अन्तर्गत आता है। मनुष्य का स्वभाव—साधारण मनुष्य स्वभाव—है कि वह बृहत् भौतिक तथ्यों का अवलोकन करना चाहता है। साधारण मनुष्य किसी सूक्ष्म वस्तु को नहीं समझ सकता। ठीक ही कहा गया है कि संसार तो उस सिंह का आदर करता है, जो हजारों मेमनों का वध करता है। लोगों को यह समझने का अवकाश कहां है कि सिंह की इस क्षणिक

विजय का अर्थ है—हजारों मेमनों की मृत्यु। इसका कारण यह है कि मनुष्य शारीरिक शक्ति की अभिव्यक्ति से प्रसन्न होता है। मानव जाति का यही सामान्य स्वभाव है। बाह्य वस्तुओं को ही लोग समझ सकते हैं, इन्हीं में उन्हें आनन्द मिलता है। पर हर समाज में कुछ ऐसे लोग मिलते ही हैं, जिन्हें इन्द्रिय विषयक वस्तुओं में कोई आनन्द नहीं मिलता। वे इनसे ऊपर उठना चाहते हैं और यदा-कदा सूक्ष्मतर तत्त्वों की झांकी पाकर उन्हें ही पाने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। और जब हम विश्व-इतिहास का मनन करते हैं तो पाते हैं कि जब किसी राष्ट्र में ऐसे लोगों की संख्या में वृद्धि हुई है, तब तब उस राष्ट्र का अभ्युदय हुआ है; तथा जब भूमा या असीम की खोज—उसे उपयोगितावादी कितनी ही अर्थहीन कहें—समाप्त हो जाती है, तो उस राष्ट्र का पतन होने लगता है। तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिकता ही किसी भी जाति की शक्ति का प्रधान स्रोत है। जिसदिन से इसका ह्रास और भौतिकता का उत्थान होने लगता है, उसी दिन से उस राष्ट्र की मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है।

इस तरह धर्म से ठोस सत्यों और तथ्यों को पाने के अतिरिक्त, उससे मिलने वाली सान्त्वना के अतिरिक्त, एक विशुद्ध विज्ञान और एक अध्ययन के रूप में वह मानव-मन के लिए सर्वोत्कृष्ट और स्वस्थतम व्यायाम है। असीम की खोज करना, असीम को पाने के लिए उद्यम करना, इन्द्रियों—मानो भौतिक द्रव्यों—की सीमाओं से परे जाकर एक आध्यात्मिक मानव के रूप में विकसित होना—इन सारी चीजों के लिए दिन-रात जो प्रयत्न किया जाता है, वह अपने आप में ही मनुष्य के सभी प्रयत्नों में उदात्ततम और परम गौरवशाली है। कुछ ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जिन्हें भोजन में ही परम सुख मिलता है। हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम उन्हें वैसा करने से मना करें। फिर कुछ ऐसे भी व्यक्ति मिलेंगे, जिन्हें विशिष्ट वस्तुओं के स्वामित्व में आनन्द मिलता है। और हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम कहें कि उन्हें वैसा नहीं करना चाहिए। पर किसी को आध्यात्मिक चिंतन में ही परमानंद मिलता है, तो उसे मना करने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। जो प्राणी जितना ही निम्न स्तर का होगा, उसे इन्द्रियजनित सुखों में उतना ही आन्नद मिलेगा। बहुत कम मनुष्य ऐसे मिलेंगे, जिन्हें भोजन करते समय वैसा ही उल्लास होता है, जैसा किसी कुत्ते या भेडिये को। किंतु याद रहे कि कुत्ते और भेडिये के सारे सुख इन्द्रियों तक ही सीमित हैं। निम्न कोटि के मनुष्यों को इन्द्रियजनित सुखों में ही आनन्द मिलता है। किंतु जो लोग सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित हैं, उन्हें चिन्तन, दर्शन, कला और विज्ञान में आनन्द मिलता है। आध्यात्मिकता

उनसे भी उच्चतर स्तर की है। विषय के असीम होने के कारण वह स्तर उच्चतम है, और जो इसे हृदयगंम कर सकते हैं, उनके लिए उस स्तर का आनन्द सर्वोत्तम है। इसलिए अगर शुद्ध उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भी आनन्द की प्राप्ति ही मनुष्य का उद्देश्य है, तो भी धार्मिक चिन्तन का अनुशीलन करना चाहिए, क्योंकि उसी में सर्वोत्तम सुख है। इस तरह एक अध्ययन के रूप में भी धर्म अत्यन्त आवश्यक है। अब हम इसके परिणामों पर विचार करें। मानव-मन के लिए यह सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति है। जितनी शक्ति हममें आध्यात्मिक आदर्शों पर चलने से आती है, उतनी और किसी से नहीं। जहां तक मानव-इतिहास का प्रश्न है, हम लोगों के लिए सुस्पष्ट है कि बात ऐसी ही रही है और धर्म की शक्तियां मृत नहीं हैं। मैं यह नहीं कहता कि केवल उपयोगितावादी आधार पर मनुष्य नैतिक और अच्छा नहीं हो सकता। केवल उपयोगिता के स्तर पर भी पूर्णतया स्वस्थ, नैतिक और अच्छे महान् पुरुष इस संसार में हुए हैं। किंतु वैसे संसार को हिला देने वाले लोग, जो मानो विश्व में एक महान् चुम्बकीय आकर्षण ला देते हैं, जिनकी आत्मा सैकड़ों और हजारों में कार्यशील है, जिनका जीवन आध्यात्मिक अग्नि से दूसरों को प्रज्वलित कर देता है सदा आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि से ही आविर्भूत होते हैं। उनकी प्रेरक शक्ति का स्रोत सदा ही धर्म रहा है। जो असीम शक्ति प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव तथा जन्मसिद्ध अधिकार है, उसके साक्षात् के लिए धर्म सर्वश्रेष्ठ प्रेरक शक्ति है। चरित्र-निर्माण, शिव और महत् की प्राप्ति, स्वयं तथा विश्व को शांति की प्राप्ति के लिए धर्म ही सर्वोपरि प्रेरक शक्ति है। अतः उसका अध्ययन इस दृष्टि से भी होना चाहिए। धर्म का अध्ययन अब पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक आधार पर होना चाहिए। धर्म सम्बन्धी सभी संकीर्ण, सीमित, युद्धरत धारणाओं को नष्ट होना चाहिए। सम्प्रदाय, जाति या राष्ट्र का अपना-अपना अलग ईश्वर मानना और दूसरों को भ्रान्त कहनाा, एक अन्धविश्वास है, उसे अतीत की वस्तु हो जाना चाहिये। ऐसे सारे विचारों से मुक्ति पाना होगा।

जैसे-जैसे मानव-मन का विस्तार होता है, वैसे आध्यात्मिक सोपाल भी विस्तृत होते जाते हैं। वह समय तो आ ही गया है, जब कोई व्यक्ति पृथ्वी के किसी कोने में कोई बात कहे और सारे विश्व में वह गूंज उठे। मात्र भौतिक साधनों से हमने सम्पूर्ण जगत् को एक बना डाला है। इसलिए स्वभावतः ही आने वाले धर्म को विश्वव्यापी होना पड़ेगा।

भविष्य के धार्मिक आदर्शों को सम्पूर्ण जगत् में जो कुछ भी सुन्दर और महत्वपूर्ण है, उन सबों को समेटकर चलना पड़ेगा और साथ ही भावविकास के लिए अनंत क्षेत्र प्रदान करना पड़ेगा। अतीत में जो कुछ भी सुन्दर रहा है, उसे जीवित रखना होगा, साथ ही वर्तमान के भण्डार को और भी समृद्ध बनाने के लिए भविष्य का विकासद्वार भी खुला रखना होगा। धर्म को ग्रहणशीला होना चाहिए, और ईश्वर सम्बन्धी अपने आदर्शों में भिन्नता के कारण एक-दूसरे का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। मैंने अपने जीवन में ऐसे अनेक महापुरुषों को देखा है, जो ईश्वर में एकदम विश्वास नहीं करते थे, अर्थात् हमारे और तुम्हारे ईश्वर में। किंतु वे लोग ईश्वर को हमारी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझते थे। ईश्वर सम्बन्धी सभी सिद्धान्त–सगुण, निर्गुण, अनन्त, नैतिक नियम अथवा आदर्श मानव–धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आने चाहिए। और जब धर्म इतने उदार बन जायेंगे, तब उनकी कल्याणकारिणी शक्ति सौगुनी अधिक हो जायेगी। धर्मों में अद्भुत शक्ति है; पर केवल इनकी संकीर्णताओं के कारण अक्सर इनसे कल्याण की अपेक्षा अधिक हानि ही हुई है।

यहां तक कि आज भी हम बहुत से सम्प्रदाय और समाज पाते हैं, जो प्रायः समान आदर्श के अनुगामी होते हुए भी परस्पर लड़ रहे हैं। इसका कारण यह है कि एक सम्प्रदाय अपने आदर्शों को एक दूसरे के समान हूबहू प्रतिपादित नहीं करना चाहता। अतः धर्म के उदार होने की नित्तान्त आवश्यकता है। धार्मिक विचारों को विस्तृत, विश्वव्यापक और असीम होना पड़ेगा, और तभी हम धर्म का पूर्ण रूप प्राप्त करेंगे, क्योंकि धर्म की शक्तियों की वास्तविक अभिव्यक्ति तो बस अब शुरू हुई है। लोग कहते हैं–धर्म मर रहा है, आध्यात्मिकता का ह्रास हो रहा है; पर मुझे तो लगता है कि अभी-अभी ये पनपने लगे हैं। एक

सुसंस्कृत एवं उदार धर्म की शक्ति अभी ही तो सम्पूर्ण मानव जीवन में प्रवेश करने जा रही है। जब तक धर्म कुछ इने-गिने पण्डे-पादरियों के हाथों में रहा, तब तक इसका दायरा मन्दिर, गिरिजाघर, धर्मग्रन्थों, धार्मिक नियमों, अनुष्ठानों और बाह्याचारों तक सीमित रहा। पर जब हम यथार्थ आध्यात्मिक और विश्वव्यापक धारणा पर आ उपनीत होंगे, तब और तभी धर्म यथार्थ हो उठेगा, सजीव हो उठेगा, हमारे जीवन का अंग बन जायेगा, हमारी हर गति में रहेगा, समाज के रोम-रोम में समा जायेगा, और तब इसकी शिवात्मक शक्ति पहले कभी भी की अपेक्षा अनन्त गुनी अधिक हो जायेगी।

आज आवश्यकता इस बात की है कि सभी तरह के धर्म परस्पर बन्धुत्व का भाव रखें, क्योंकि अगर उन्हें जीना है, तो साथ और मरना है, तो साथ साथ। बन्धुत्व की यह भावना पारस्परिक स्नेह और आदर पर आधारित होनी चाहिए, न कि संरक्षणशील, प्रसादस्वरूप किंचित् शुभेच्छा की कृपण अभिव्यक्ति पर, जिसे आज एक धर्म अनुग्रहपूर्ण भाव से दूसरे पर दर्शाते हुए पाया जाता है। एक ओर हैं, मानसिक व्यापारों की अध्ययनजन्य धार्मिक अभिव्यक्तियां, जो अभाग्यवश आज भी धर्म पर एकाधिकार का पूरा दावा रखती हैं–और दूसरी ओर हैं धर्म की वे अभिव्यक्तियां, जिनके मस्तिष्क तो स्वर्ग के रहस्यों में अधिक व्यस्त हैं, किंतु जिनके चरण पृथ्वी से ही चिपके हैं– तात्पर्य है तथाकथित भौतिक विज्ञानों से। अब इन दोनों के मध्य इस बन्धुत्व की भावना की सर्वोपरि आवश्यकता है।

इस सामंजस्य को लाने के लिये दोनों को ही आदान-प्रदान करना होगा, त्याग करना पड़ेगा, यही नहीं, कुछ दुःखद बातों को भी सहन करना पड़ेगा। पर इस त्याग के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति और भी निखर उठेगा और सत्य के सन्धान में अपने को और भी आगे पायेगा। अन्त में देश-काल की सीमाओं में बद्ध ज्ञान का महामिलन उस ज्ञान से होगा, जो इन दोनों से परे है, जो मन तथा इन्द्रियों की पहुंच से परे है–जो निरपेक्ष है, असीम है, अद्वितीय है।

धर्म जन्म से लेकर मृत्यु तक हमारे जीवन का सहयात्री है। राजनीति भी जीवन का एक अंग है, इसलिए धर्म उसे भी घेरे हुए है। धर्म निरपेक्ष राजनीति का अर्थ होगा अधार्मिक राजनीति। मैं अपने नेताओं से पूछना चाहता हूं कि धर्मनिरपेक्षता का नारा देकर क्या वे सारे देश को अधार्मिक बनाना चाहते हैं? शायद आजादी के इन पैंतालीस वर्षों में सत्ता की प्यास और वोटों के लालच ने हमारे देश को अधार्मिक ही बनाया है।

आज की संकीर्ण और स्वार्थी राजनीति सृजन के स्थान पर विध्वंस को ही प्रश्रय दे रही है। एक शायर ने ठीक ही कहा है:

ये मेरे देश के बच्चों का क्या हुआ यारो।
खिलौने बेच के खंजर खरीद लाये हैं।'

चाणक्य ने तो 'वारांगनैव नृपनीति' कहकर राजनीति को सिर्फ वेश्या ही कहा था, लेकिन हमारे देश के भ्रष्ट राजनेताओं ने इसे पिशाचिनी बना दिया है, जिसे मनुष्य का खून पीने में भी कोई संकोच नहीं है-

'नहीं शराब में, आया लहू में स्वाद उसे।
जो चार दिन भी सियासत के इस नगर में रहा।'

कोठे पर रहने वाली देह व्यापार करने वाली वेश्या का भी कोई धर्म होता है, लेकिन आज की राजनीति के पास न तो कोई मूल्य है, न कोई सिद्धान्त न कोई दृष्टिकोण और न कोई दर्शन ही। भ्रष्टाचार सम्प्रदायवाद हिंसा जातिवाद आज की राजनीति के मूल्य बनकर रह गये हैं। हिन्दुस्तान आज पतन के जिस स्तर पर खड़ा हुआ है वह अपने समूचे इतिहास में इतना कभी नहीं गिरा था। मंदिरों में मूर्तियां हैं लेकिन भगवान नहीं। मस्जिदों में अजाने हैं लेकिन अल्लाह नहीं है, ज्ञानपीठों में पुस्तकों के भंडार हैं, लेकिन ज्ञान नहीं। नियम कानून व्यवस्था सदाचार आदि सभी का देश से जैसे पलायन हो चुका है। गरीब-अमीर कोई भी सुखी नहीं है। यह सब किसलिए और क्यों हुआ?

यह सब इसलिए हुआ कि आजादी के बाद धर्मनिरपेक्षता का नारा बुलन्द करके हमने इस देश को पूरी तरह अधार्मिक बना दिया है।

महात्मा गांधी का विश्व राजनीति में सबसे बड़ा योगदान यही था कि उन्होंने राजनीति को धर्माश्रित करके एक वेश्या को सती बनाया

था। उनके आंदोलन का नाम सत्याग्रह था, हड़ताल, बंद या घेराव नहीं। वहां सत्य के लिए आग्रह था दुराग्रह नहीं। और उसे प्राप्त करने का रास्ता था अहिंसा, प्रेम और सद्भाव का। इसीलिए गांधी जी कहा करते थे-हमारा ध्येय ही शुभ नहीं उसे प्राप्त करने का हमारा माध्यम भी शुभ होना चाहिए। लेकिन कालान्तर में उन्हीं के कुछ अनुयायियों ने माध्यमों की शुभता को यहां तक नकारा कि लोकतंत्र अराजक-तंत्र बनकर रह गया। याद रखिये-धर्माश्रित होकर राजनीति सती बन जाती है और धर्मविहीन होकर वह वेश्या ही बनी रहती है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि 42वें संशोधन के उपरांत संविधान में 3 जनवरी, 1977 को सेक्यूलर शब्द जोड़ा गया, और हिन्दी में इसे पंथ-निरपेक्ष के रूप में व्याख्यायित किया गया और इसे पंथ-निरपेक्षता को हमारे संकीर्ण स्वार्थी नेताओं ने धर्म-निरपेक्षता कहना शुरू कर दिया। हमारे यह लोग शायद धर्म का अर्थ ही नहीं जानते। हमारे पूर्व राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने एक स्थान पर कहा है कि 'धर्म' शब्द भारत की मौलिक खोज है। और संसार की किसी भी भाषा में इसका पर्याय नहीं है। काश उस कथन को धर्मनिरपेक्षता का नारा उछालने वाले समझते। धर्म की अवहेलना करके हम इस देश को उन समस्त प्रज्ञापुरुषों, उन समस्त ऋषियों, उन समस्त क्रांतिदर्शियों का अपमान कर रहे हैं जिन्होंने सारे विश्व को धर्म के सही रूप से परिचित कराकर एक नयी संस्कृति के सूर्योदय का अवतरण संसार में किया था। कृष्ण, महावीर, बुद्ध, कबीर, नानक, दादू, रविदास आदि संतों ने बाहरी भेदभाव से ऊपर उठकर समस्त मानव जाति को एक करने का जो श्लाघनीय प्रयत्न किया था वह भी धर्म प्रेरित ही था। धर्मनिरपेक्षता का नारा देकर हम इनको भी नकारते हैं। 'सर्वभूतहितरत' और 'वसुधैव कुटुम्बकम' की जो उद्घोषणाएं सुदूर अतीत में जो इस देश ने की थी वे सब धार्मिक चेतना का ही परिणाम थी। इसलिए

धर्म की हत्या न करें, क्योंकि धर्म ही इस देश की आत्मा है। यदि आपको युद्ध छेड़ना ही है तो आपका अपना

युद्ध जातिवाद, सम्प्रदायवाद, प्रान्तवाद, भ्रष्टाचार के खिलाफ होना चाहिए तभी इस देश का कल्याण होगा और तभी सार्थक होगा लोकतंत्र भी।

राजनीति से धर्म को अलग करना तथा धर्म में से राजनीति हटा देना बिल्कुल अलग-अलग मतलब रखता है। राजनीति व धर्म दोनों के एक-एक तो सैद्धान्तिक पहलू हैं तथा दूसरे व्यावहारिक।

इसी सूत्र को शायद हमारे संविधान निर्माताओं ने समझा था, तभी तो लोकसभाध्यक्ष के आसन के पीछे ये ध्येय-वाक्य 'धर्मचक्र प्रवर्तनाय' और उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के आसन के पीछे 'धर्मोरक्षति रक्षत' अंकित है। अर्थात् धर्म की रक्षा से ही सबकी रक्षा होती है और लोकसभा का उद्देश्य धर्मचक्र का प्रवर्तन ही है, लेकिन अत्याधिक आश्चर्य और दुःख की बात यह है कि हमारी इसी लोकसभा में अधिकांश राजनीतिक दल, धर्मनिरपेक्षता का नारा बुलन्द कर रहे हैं। लगता है ऐसा करने वाले या तो धर्म का अर्थ ही नहीं जानते अथवा उन्होंने इसे रिलीजन या मजहब का पर्याप मान लिया है, जबकि इन तीनों के अर्थों में बहुत भिन्नता है।

धर्म की इसी महत्ता से अवगत होने के फलस्वरूप मूल संविधान में 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं किया गया। संविधान सभा में हुए वाद-विवाद के अभिलेखों से स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि धर्मनिरपेक्षता शब्द का प्रयोग इसलिये नहीं किया गया कि संविधान निर्माता महात्मा गांधी के इस मत से सहमत थे कि धर्म राजनीति की आत्मा है, जिसके अभाव में राजनीति केवल भ्रष्ट नीति एवं स्वार्थ नीति बन जाती है। राष्ट्रीय ध्वज में अशोक के धर्मचक्र की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए संविधान सभा के मुस्लिम सदस्य सदीकुल्ला ने कहा कि यह चिन्ह भारतीय शासकों को सदैव स्मरण दिलाता रहेगा कि वे संसद एवं राजकीय भवनों में केवल अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं, वरन जनसेवा के लिए उपस्थित होते है। इसी प्रकार सर्वपल्ली डा. राधाकृष्न ने कहा कि 'यह चिंह हमें सदैव स्मरण दिलाता रहेगा कि सत्य की प्राप्ति केवल धर्म के अनुकरण से ही हो सकती है।

यह सही है कि पूजा-अर्चना या नाना विश्वासों को लेकर सामान्य धर्म से पृथक धर्म का एक विशेष मजहबी रूप भी होता है जो विभिन्न पंथावलंबियों के सामाजिक आचरण में वैभिन्न्य लाता है। इस दृष्टि से राजनीति का पंथ निरपेक्ष होना न केवल संभव है वरन वांछनीय भी। इसीलिए संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 14, 15 तथा 16 के आधार पर विभिन्न पंथावलंबियों के मध्य किसी प्रकार के विभेद की मनाही तथा धारा 19 के अनुसार इच्छानुसार पंथ विशेष को अपनाने या न अपनाने की

स्वंतत्रता के साथ-साथ 29-30 के द्वारा अल्पसंख्यकों को शिक्षा, संस्कृति एवं विशिष्ट जीवन शैली को अक्षुण्ण रखने की व्यवस्था की।

इन संवैधानिक उपग्रंथों के बावजुद अगर आज भारत में सांप्रदायिक सौहार्द की दीपशिखा, को विद्वेष के वात्याचक से बुझा दिया जाता है, तो इसके लिए न तो धर्म दोषी है और न संविधान। दोषी है हिन्दुओं को विभाजित कर 'ब्राह्मण-हरिजन-मुस्लिम' वोट की ठेकेदारी करने वाली कांग्रेस पार्टी तथा इसका अनुकरण कर 'पिछड़ा-मुस्लिम' या 'हिन्दू वोट बैंक' की राजनीति करने वाली अन्य पार्टियां।

इसका समाधान केवल भारत की प्रबुद्ध जनता ही कर सकती है। और भारतीय मतदाताओं ने समय-समय पर 'गरीबी हटाओ' या 'काम करने वाली सरकार' जैसे चुनावी नारों पर मतदान कर इस बात का पर्याप्त प्रमाण दिया है कि वे साम्प्रदायिक या जातीय दल-दल से ऊपर उठाकर आचरण कर सकते हैं। अतएव आवश्यकता है भ्रष्ट राजनेताओं के मानसिक पिछड़ेपन के इलाज की, न कि कानून द्वारा धर्म को राजनीति से अलग कर उनके स्वार्थनीति पर वैधता की मुहर लगाने की।

धर्म को अलग करने का प्रयास जो सरकार कर रही है, यह धर्म के लाभ और हानि को देखकर नहीं, बल्कि अपनी उपयोगितावादी राजनीति के आधार पर करना चाह रही है। जिस 'राम' शब्द का महात्मा गांधी ने अपने अंतिम क्षणों का सहारा लिया, आज उसी शब्द मात्र से सत्ता पक्ष तथा उसके मित्र मण्डली की नींद हराम हो रही है। केवल राजनीति को सम्मुख रखकर देश की आध्यात्मिक, धरोहर को कूड़ेदान में फैंकने का प्रयास किया जा रहा है।

राम, कृष्ण, बुद्ध कबीर, नानक, रविदास, के इस देश में आज धर्म की बात सार्वजनिक मंच से कोई नेता नहीं कर सकेगा, हमारे प्रेरणा के स्रोतों हमारे धार्मिक ग्रन्थों से प्रसंग नहीं कहे जा सकेंगे। हमारी एक से अधिक पीढ़ी स्वराज्य व रामराज्य के लिये संघर्ष करती रही है। देश आजाद हुआ तो हमारे सभी राष्ट्रीय प्रतीकों में धर्म को साथ जोड़ा गया। क्योंकि हमारी संस्कृति ऐसी थी कि हम अपने जीवन में धर्म को अलग कर चल ही नहीं सकते थे। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का जीवन इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है। लेकिन आज उनके नामलेवा ही धर्म को संकट मानकर चल रहे हैं। कुछ समय पश्चात या धर्म मुक्त राजनीति से सम्बन्धित विधेयक पारित होने के पश्चात महात्मा गांधी की समाधि से 'हे राम' शब्द को हटाकर यह धर्मनिरपेक्षता के दावेदार गौरन्वित होना चाहेगे।

धर्म से राजनीति को अलग करने के व्यावहारिक पक्ष को देखें तो कोई उपदेशक महाभारत व रामायण की कथा नहीं कह पाएगा। नैतिकता का विश्लेषण करने में बहुत से सत्ताधारी नेता कहेंगे कि यह उनके चरित्र पर सीधा या परोक्ष आक्षेप है। अतः धर्मोपदेशकों को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि पर सम्भल कर गोलमाल रूप में बोलना होगा। आज के किसी भी धर्म के किसी प्रचारक का कोई प्रवचन ऐसा नहीं होगा जो पुरानी या आज की राजनीति को कहीं न कहीं न छूता हो। यदि राजनीति से धर्म को निर्दयतापूर्वक अलग ही करना है तो कोई प्रधानमंत्री सवामण तो क्या पाव भर दूध से भी पुष्कर में अभिषेक नहीं कर पाएगा। अल्पसंख्यक व बहुसंख्यक शब्दों का व विचारों का बहिष्कार करना होगा। अकाली दल, मुस्लिम लीग जैसी पार्टियों को भंग कर लुप्त हो जाना पड़ेगा। सामाजिक व्यवहार में समस्त नेताओं को केन्द्र से लेकर ग्राम पंचायत तक किसी विशेष धर्मावलम्बी होने का कोई सार्वजनिक परिचय नहीं देना होगा। विवाह सम्मेलनों, धार्मिक उत्सवों आदि में सम्मिलित होने से कतराना होगा। हर उद्घाटन में पण्डित, पादरी, मौलवी, आचार्य, सन्त, ज्ञानी आदि सभी धर्मों के प्रतिनिधियों को बुलाना होगा तथा हरेक के कथनानुसार सारे अनुष्ठान करने होंगे या इनका बिल्कुल बायकाट कर देना होगा। स्कूलों, कालेजों में प्रार्थनाएं बन्द करनी होंगी या सब धर्मों की अनिवार्यता करनी होगी।

नेताओं व चुनावी प्रत्याशियों को तो इस बंधन में बांधा जा सकता है पर आम जनता पर जिसके मत ही सरकार के निर्माता होंगे, ये प्रतिबंध कैसे लगाए जाएंगे? क्या गांवों में परस्पर मिलन का सम्बोधक "जय राम जी की" प्रतिबंधित कर दिया जाएगा? कतिपय रंग भी कुछ धर्मों से जुड़े हुए हैं जैसे गेरुआ, केसरिया, नीला, काला व सफेद। इन रंगों के सामूहिक या समारोहपूर्वक व्यवहार को क्या चुनाव में वोट देने जाते समय गैरकानूनी करार दिया जा सकेगा? स्वास्तिक, चांद, तारा, पन्ना, कमल आदि अनेक प्रतीक भी धार्मिक हैं–इनके उपयोग पर किस-किस प्रकार की रोक लगाई जाएगी? हमारे यहां तो भाषाओं को भी धर्मों से जोड़ दिया गया है। उर्दू, संस्कृत व फारसी का प्रयोग

भी कब उचित होगा व कब अनुचित, इस पर विचार करना होगा? लोकगीत, लोकनृत्य, चित्रकला आदि भी धार्मिक प्रतीकों व पहचान की भनक देती हैं—उनका क्या हाल होगा? संक्षेप में धर्म जीवन के हर रेशे में इतना समाया हुआ है कि पूर्ण धर्मनिरपेक्षता जीवन के किसी अंग में सम्भव नहीं है।

गांधी के विचार:- महात्मा गांधी ने आधुनिक युग में व प्रजातांत्रिक राजनीति में सबसे पहले धर्म व धार्मिक आचरण पर जोर दिया। हमारा स्वतन्त्रता संग्राम, त्याग, तपस्या, अपरिग्रह, सत्य व अहिंसा के सिद्धान्तों से ओतप्रोत रहा। हम विश्व में आध्यात्मिकता का प्रसार करने में अग्रणी हैं। क्या एक राजनीतिक दल की सामयिक आवश्यकता के आधार पर हम अपनी पूरी परम्पराओं और पूंजी का त्याग करने को तैयार हैं? क्या एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना हमारे सारे व्यक्तित्व, अस्तित्व व प्राण धर्म को उलटकर रख देने का बल या महत्व रखती है?

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि विचार करें तो क्या विचारों को अलग-अलग वातानुबंधित कोष्ठों में कैद किया जा सकता है? क्या वही व्यक्ति निजी व सामाजिक जीवन में अलग-अलग तरीके से सोच सकता है? अथवा क्या मन का इस प्रकार का विभाजन 'सीजोफ्रेनिया' या द्वैमानसिकता का रोग नहीं कहलाता? क्या हम कानून के द्वारा मानसिकता का नियंत्रण कर सकते हैं?

राजनीतिक दृष्टिकोण से भी जिस वृत्ति या व्यक्ति का दमन किया जाता है वह उसके कारण मजबूत ही होती या होता है। इसका सबसे प्रभावी उदाहरण सत्तर-पचहत्तर वर्षों तक दमन द्वारा रोकी हुई पूर्व सोवियत संघ की राष्ट्रीयता व धार्मिकता की प्रवृत्तियां हैं। आज पता लग रहा है कि ये प्रवृत्तियां पीढ़ियों तक नहीं दबाई जा सकतीं। हमारे यहां भी जिस पर रोक लगी वही आगे चलकर रोकने वाला बनता रहा। धर्म व राजनीति को अलग करने वाले कानून के परिणाम

अप्रत्याशित रूप से धार्मिक भावना की बाढ़ ला देंगे।

राष्ट्रीयता का आधारः- *राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति का आधार व मर्म कोई संविधान या कानून नहीं होता। वह होती है एक भावना। उस भावना के तत्त्व को पहचान कर उसे प्रबल बनाने के प्रयत्न ही देश की एकता का सीमेण्ट बन सकते हैं। थके हुए या बोखलाए हुए व्यक्तियों का अपनी सत्ता से चिपटे रहने के लिए किया हुआ आर्त्तनाद देश को जगाने वाला शंखनाद नहीं बन सकता। न राजनीति से धर्म अलग हो सकता है न धर्म से राजनीति। अलग ही करना है तो राजनीति से भ्रष्टाचार, पदलोलुपता व पार्टीवाद को हटाइए तथा धर्म से पाखण्ड, साम्प्रदायिकता व संकीर्णता दूर कीजिए।*

आपके सम्मुख यह सब विचार रखने का अभिप्रायः मात्र इतना था कि धर्म की आवश्यकता इंसान को कितनी है। उसके बिना भारतीय जीवन कैसा होगा, उस बारे विचार कर सकें। क्या देश पतन की ओर तो नहीं जा रहा? क्या भारतीय संस्कृति की आत्मा को नष्ट करने का प्रयास तो नहीं किया जा रहा? क्या हमारी उदासीनता हमारी भावी पीढ़ी के लिये घातक तो नहीं सिद्ध होगी? यह सब बातें हैं जिन्हें हम सबको विचार कर अपना विचार बना कार्य करना चाहिए।

B6

'धर्म की राजनीति' पर प्रतिबन्ध इन प्रस्तावित विधेयकों के लागू होने पर भारतवर्ष के उन सांस्कृतिक प्रतीकों तक को 'अवैध' करार दिया जाएगा, जो भरतवर्ष होनें के चिन्ह हैं। ये विधेयक हिन्दू धर्म को मजहब साबित करने की साजिश में लाये गये हैं।

इस तर्क में कोई दम नहीं कि ये विधेयक सिर्फ चुनाव प्रक्रिया के दौरान और सिर्फ राजनीतिक पार्टियों के गठन के मामले में प्रभावी होंगे। किसी देश के सांस्कृतिक प्रतिकों को 'अवैध' करार देना हर हाल में और हर तरह से उसके बाशिंदों की स्मृति का तिरस्कार और निषेध करना है। 'संविधान' का देश की स्मृति और संस्कृति से प्रतिबद्ध होना जरूरी है। दूसरों पर 'संविधान' से खिलवाड़ का आरोप लगाने वाली केन्द सरकार को क्या यह सचमुच पता नहीं कि वह इस अस्सीवें संविधान-संशोधन के द्वारा 'संविधान' ही नहीं, बल्कि भारतवर्ष की स्मृति, संस्कृति, संवेदना, प्रकृति और परम्परा के साथ कितना बड़ा और खतरनाक खिलवाड़ करने जा रही है ? जो सरकार 'संविधान' को मजहबी और जातिवादी नस्लवादी कानूनों का पुंज बनाये बैठी है, वही धर्म, जाति, भाषा-नस्ल आदि के आधार पर राजनीति को प्रतिबंधित करने की पाषकश करे, तो सवाल जरूरी होगा कि गुड़ खाने वाले को गुलगुलों से परहेज की संवैधानिक चेतावनी घुमाने की नौबत क्यों आ गयी ?

स्पष्ट है कि कांग्रेस मार्क्सवाद की तर्ज में 'धर्म की राजनीति' को अफीम बताने को बाध्य हुई है, तो इसके कुछ गहरे कारण हैं और उनमें सबसे मुख्य, हिन्दुओं में एकजुट होने की सुगजुगाहट को आकार लेते देखने का त्रास है। 'धर्म' के साथ जाति, भाषा, क्षेत्रीयता और मजहब को लपेटने के कारण स्पष्ट हैं। जातियों 'वोट' बैंकों की कमान बसपा, जनता दल और समाजवादी पार्टी ने अपने हाथों में ले ली है। आर्थात जातियों और मजहब की राजनीति के जो चोर- दरवाजे कांग्रेस ने संविधान में अपने लिये प्रक्षिप्त कर रखे थे, इन्हें दूसरों ने हथिया लिया है। उधर भाजपा ने 'हिन्दू वोट बैंक' का बवन्डर खड़ा कर दिया है। इस प्रकार मुस्लिम, हरिजन, देश की चेतना से शून्य हिन्दू समुदाय, क्षेत्रीय तुष्टिओं का जो चुनावी चौखम्भा कांग्रेस ने अपने लिये जिस इतमीनान से बनाया था और जिसके लिये बाकायदा संविधान तक का दलगत राजनीतिक इस्तेमाल किया उसके चारों पाये चरमरा गये हैं। प्रस्तावित संविधान इन्हें ढहने से बचाने की बेचैनी में लाया गया है। 'संविधान' के दलगत राजनीतिक इस्तेमाल' की इससे अधिक विकृत मिसाल सिर्फ आपात लागू करना रहा है और जो कांग्रेस के ही खाते में दर्ज है। प्रस्तावित धर्मविरोधी विधेयक भी फिर वही नौबत लायेंगे, 'संविधान' के मनमाने दलगत राजनीतिक इस्तेमाल की प्रवृत्ति कांग्रेस के रक्त में घुल-मिल चुकी है।

एक बार सत्ता में आ जाने पर पांच साल तक देश की तरफ से पीठ मोड़ लेना तथा कानून व्यवस्था में गिरावट, भ्रष्टाचार और जनसमाज के कैसे भी विक्षोभों और हाहाकारों के बावजूद, संसद तक में कोई जवाबदेही कतई नहीं स्वीकारना कांग्रेस का बुनियादी चरित्र बन गया है।

इसलिए इन प्रस्तावित विधेयकों को हिन्दुत्व और भारतवर्ष के विरुद्ध अत्यंत ही गम्भीर षड्यंत्र के रूप में देखना जरूरी होगा। तथाकथित आजादी के पिछले लगभग साढ़े चार दशकों में, जब तक रामजन्म भूमि और मुस्लिम तुष्टीकरण के मामलों से हिन्दुओं के एकजुट होने का सिलसिला शुरू नहीं हुआ, 'हरिजन वोट बैंक' पल्ले से नहीं खिसका, 'मुस्लिम वोट बैंक' हाथों के तोते की तरह दूर उड़ान भरता नहीं दिखायी पड़ा—कांग्रेस को धर्म, मजहब, जाति आदि की साम्प्रदायिकता से देश की राष्ट्रीय अखण्डता की प्रतीति होती रही। आज अचानक और एकाएक यह इलहाम कैसे और क्यों जरूरी हो गया कि साम्प्रदायिकताओं की राजनीति देश के लिए खतरा बन गयी है ? कांग्रेस, दरअसल, यह बताना या सिद्ध करना चाहती है कि देश के लिए अगर कोई सबसे बड़ा खतरा है, तो वह है – हिन्दुओं का एकजुट होना।

अगर अब भी हिन्दू खुद की फूट-फुटव्वलों के शताब्दियों पुराने कोढ़ से उबरने की पहल करने को तैयार नहीं हुए, तो अगले कुछ ही दशकों में

हिन्दू समाज के बच रहने और भारतवर्ष के एक देश के रूप में भारतवर्ष की हैसियत बनाये रख सकने का यह अंतिम अवसर है और इसका रास्ता सिर्फ और सिर्फ एक है – हिन्दुओं का परस्पर फूटे समुदायों की जगह, एक समेकित, एक जुट तथा परस्पर नाभिनाल स्तर पर गुथे लोगों का समाज बनने की दिशा में संकल्पबद्ध होना।

37

देश, काल और मनुष्य, ये तीनों परस्पर गुंथे हैं। इनका गुंथना, या गुंथा होना, ही कालांतर में 'श्रुतियों' को सम्भव करता है। 80वें संविधान संशोधन के संदर्भ में भी इन सब बातों को अप्रासंगिक नहीं माना जा सकेगा क्योंकि प्रस्तावित विधेयक देश के बहुसंख्य लोगों के विक्षोभ और उनकी व्याकुलता को सुनने से इंकार के 'संवैधानिक 'षड्यंत्र' की उत्पत्ति हैं। ये विधेयक कांग्रेस या केन्द्र सरकार के गर्भगृह से 'चण्ड-मुण्ड' की भांति उदित हुए हैं और इनका प्राकट्य अंततः कांग्रेस को ही भारी पड़ने वाला है। भारतवर्ष की एक राष्ट्र की हैसियत के सवालों के मामले में इस मुख्य बात को समय रहते समझ लेना चाहिए कि कांग्रेस भारतवर्ष के सांस्कृतिक प्रतीकों को संवैधानिक प्रतिबंधों और आक्षेपों के दायरे में लाकर, हिन्दू समाज की स्मृति के उस सातत्य को ध्वस्त कर देना चाहती है, जिसने करोड़ों हिन्दुओं को, रामजन्म भूमि के प्रसंग से ही सही, भारतवर्ष के एक देश की हैसियत की नियति से गहरे तक जोड़ दिया है। बुद्धिजीवियों से अब यह सीधा सवाल जरूरी होगा कि हिन्दुओं का एकजुट होना या एक राष्ट्रीयता के बुनियादी सवालों से जुड़ा समेकित समाज बनना, भारतवर्ष के लिए खतरनाक कैसे और क्यों है? क्या पाकिस्तान हिन्दुत्व या हिन्दुओं के एकजुट होने के कारण बना था? कश्मीर क्या हिन्दुत्व के कारण घपले में पड़ गया है?

मानना होगा कि चूंकि हिन्दुत्व का जो पुनर्जागरण भारतवर्ष की स्मृति, संस्कृति, राष्ट्रीयता और एक स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत की अस्मिता के आधारभूत प्रश्नों को राजनीति के केन्द्र में ला रहा है, उससे ऐसे तमाम लोगों के कलेजे धसक गये हैं, जिनको डर है कि भारतवर्ष के एक स्वाधीन देश और राष्ट्र की शक्ल लेते ही, औपनिवेशिक राज्य व्यवस्था के द्वारा प्रदत्त सहूलियतें छिन जाएंगी। इन्हें यह पता है कि 'हिन्दुत्व' से खतरा देश को नहीं, बल्कि सिर्फ उन्हें है जो भारतवर्ष की स्मृति और संस्कृति के बुनियादी सवालों की कीमत वसूल करने के अभ्यासी हो चुके, लेकिन भूलना नहीं चाहिए कि जब किसी व्यापक स्मृति और सांस्कृति नैपथ्य वाले देश में आत्मंथन की चेतना करवट लेती है, तो इसकी आहट सामान्य नहीं होती। यह आहट ही 'श्रुति' कहलाती है।

धर्म हौवा सिर्फ इसलिए खड़ा कर रही हैं कि इन्होंने सपनों में भी नहीं सोचा था कि कभी हिन्दू एकजुट भी हो सकते हैं। अगर हिन्दू 1947 में ही एकजुट हो गये होते, तो सबसे पहली, और बड़ी, 'हिन्दू राजनीतिक पार्टी' होती। कांग्रेस के नीचे की धरती धसक गयी है। 'संविधान' इस भूकम्प से कांग्रेस को बचा नहीं पायेगा

ये सिर्फ हिन्दुत्व के नहीं, बल्कि भारतवर्ष और भारतीयता के प्रश्न हैं और इनका उत्तर मूर्च्छित नहीं दे पायेंगे।

कांग्रेस को पता है कि भारतवर्ष के एक देश-या किसका देश—होने का सवाल जब भी राजनीति के केन्द्र में पहुंचेगा तो हिन्दुत्व के सोपानों से ही। इसलिए 80वें संविधान- संशोधन को 'हिन्दू-मात्र के विरुद्ध संवैधानिक षड्यंत्र' के रूप में देखना जरूरी होगा क्योंकि राजनीति के क्षेत्र में भारत वर्ष की एक स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत के बुनियादी सवाल चाहे, जब केन्द्र में आयें, आयेंगे 'हिन्दुत्व' के महासागरीय थपेड़ों से ही।

देश ही मनुष्य का एकमात्र आश्रय है। मनुष्यता का भी। देश के प्रति कृतघ्न में मनुष्यता असम्भव है और चूंकि देश का आधार सिर्फ स्मृति है, इसलिए भूलना नहीं चाहिए कि स्मृति और संस्कृति में हस्तक्षेप ही सबसे खतरनाक हस्तक्षेप होता है। हिन्दुत्व और भारतवर्ष पूरे एक हजार सालों तक इस हस्तक्षेप को झेलते आये हैं और अस्सीवां संविधान संशोधन भी इसी श्रृंखला की एक कड़ी है। इसे नहीं तोड़ा गया, तो देश फिर टूटेगा।

धर्महीन राजनीति से अहित होगा

आज धर्मनिरपेक्षता चर्चा का विषय बना हुआ है। उनका कहना है कि राजनीति से धर्म को अलग निकाल दो। तो क्या धर्महीन राजनीति से देश का हित होगा? आज वैसे भी राजनीतिज्ञों ने धर्म से नाता तोड़ रखा है। जब राजनीति में धर्म शून्य हो जायेगा, तब उच्छृंखलता और भी बढ़ेगी और भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलेगा। धर्म ही तो है जो अनीति से रोकता है। धर्म से ही हमारा राष्ट्रीय तथा पारिवारिक जीवन सफल, समृद्ध एवं आदर्श होगा।

राजनीति से धर्म निकालने की भाषा एवं भाव ही गलत है। धर्म का प्रयोग राजनीतिक लाभ के लिए न होकर समाज के लिए होना चाहिये। एक देश के नागरिकों के लिये अलग-अलग कानून क्यों? सभी भारतीयों के लिए, देश के सभी भागों के लिये एक कानून तथा एक समान व्यवस्था होनी चाहिये। तब ही साम्प्रदायिक सौहार्द एवं एकता संभव है। तुलसी जी ने कहा है-

मुखिया मुख सो चाहिए,
खान-पान कहं एक।
पाले पोसे सकल जग,
तुलसी सहित विवेक।।

परिवार या देश का मुखिया ही जब पक्षपाती या अवसरवादी होगा तो देश का क्या होगा? जैसा राजा वैसी प्रजा। राष्ट्र के सभी भागों के नागरिकों तथा उनकी आस्था का संरक्षण समान रूप से होना चाहिए।

38

यदि धर्म को राजनीति से अलग करने वाला बहु-प्रचारित विधेयक संसद ने पास कर दिया तो यह भारतीय संविधान के प्राक्कथन की जड़ों पर कुठाराघात होगा। हिंदू भावनाओं का ऐसा तूफान उठेगा जिसे सरकार नियंत्रित नहीं कर पायेगी।

एक ओर तो संविधान के प्राक्कथन में सिख, ईसाई तथा मुसलमानों को धर्म के आधार पर अल्पसंख्यक माना गया है, दूसरी ओर प्रस्तावित विधेयक का उद्देश्य हिंदुओं को अपने धर्म के पालन से वंचित करना है। जो लोग धर्म-निरपेक्षता की बातें करते है वे समाज को धर्म के आधार पर बांटने के लिये कृतसंकल्प है।

इस विधेयक को पास करने से पहले केन्द्रीय सरकार को अल्पसंख्यकों को समाप्त कर देना चाहिये।

सरकार द्वारा हिंदुओं के धार्मिक मामलों मे दखल देना उनके साथ अन्याय होगा। विधेयक का मकसद अल्पसंख्यकों में सत्तारूढ़ पार्टी का वोट बैंक कायम करना है।

सरकार सिर्फ हिंदू मंदिरों को ही अपने नियंत्रण में लेती है। क्या उसने कभी देश के किसी अन्य संप्रदाय के धर्मस्थल पर भी नियंत्रण किया है?

अयोध्या में 'सहमत' द्वारा आयोजित 'मुक्तनाद' का उद्देश्य था धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देना; लेकिन परिणाम इसके ठीक विपरीत निकले। सफदर हाज़मी मैमोरियल ट्रस्ट द्वारा आयोजित यह कार्यक्रम बिलकुल असफल रहा। साथ में देश-विदेश में बैठे करोड़ों हिन्दुओं की भावनाओं को भी ठेस पहुंचा गया। इसका मुख्य कारण वह पोस्टर रहे, जिनमें सीता को राम की बहन दिखाया गया और दूसरे में राम को रावण का पुत्र भी दिखाया गया। इन पोस्टरों का आधार बौद्ध जगत की जातक कथायें बताया जा रहा है।

अयोध्या भगवान राम की पावन जन्मस्थली है और वहां पर भगवान राम के चरित्र के संबंधी ऐसे चित्रों की प्रदर्शनी लगाना कोई आकस्मिक बात नहीं थी बल्कि आयोजकों द्वारा नीतिबद्ध रूप से हिन्दू भावनाओं को ठेस पहुंचाना ही कहा जा सकता है। इस संस्था को सरकार द्वारा 50 लाख की रकम का योगदान दे दिये जाने का अर्थ यह भी हो सकता है कि यह सब कुछ सरकार के इशारे पर हुआ।

जो कुछ अयोध्या में भगवान राम के प्रति दर्शाया गया, क्या कभी 'सहमत' से जुड़े लोग लेखक रशदी की पुस्तक 'शैतान की आयतों' को आधार मानकर मक्का क्या, दिल्ली के जामा मस्जिद क्षेत्र में कार्यक्रम कर सकते हैं? क्या भारत सरकार उस आयोजन के लिये 50 लाख रुपये देकर 'सहमत' को पुरस्कृत करेगी? कभी सोचकर तो देखिये, जो कुछ सरकार हिन्दुस्तान में हिन्दुओं के साथ कर रही है तथा जिस प्रकार देश के बहुमत की भावनाओं से खिलवाड़ हो रहा है, वह बंगलादेश या पाकिस्तान में बहुमत समाज के साथ कर पाना सम्भव है? शायद नहीं। क्योंकि वहां धर्मनिरपेक्षता का ढोंग नहीं रचा जाता, वहां यथार्थ को सम्मुख रख निर्णय लिये जाते हैं।

(1) यहां अयोध्या में भगवान राम व सीता को बहन-भाई दिखाया जा सकता है।

(2) यहां भगवान राम व कृष्ण के जन्म दिवसों पर कोई छुट्टी नहीं है।

(3) यहां हिन्दुओं को पूजा करने के लिए विशेष छुट्टी नहीं है।

(4) हिन्दू हितों की रक्षा की बात करें, तो देश के टूटने का भय है।

कहने का भाव यह है कि जो बात देश की 85 प्रतिशत जनसंख्या को उचित लगती है वह देश में सत्ता में बैठी पार्टी व सरकार को अहितकर लगती है जबकि देश की 11 प्रतिशत जनता को खुश करने के लिये सरकार—

—मुहम्मद साहिब के जन्मदिन की घोषणा, लालकिले से कर खुश होती है।

—केरल में नमाज पढ़ने के लिए स्कूलों में विशेष छुट्टी की घोषणा करती है। हज जाने वाले यात्रियों को विशेष छूट है जबकि कटासराज या ननकाना साहिब जाने वाले तीर्थयात्रियों को कोई छूट नहीं है।

'सहमत' जैसी संस्थाओं को 50 लाख ऐसे दिया जा रहा है जैसे 50 नये पैसे देने होते हैं क्योंकि उन्होंने देश की 85 प्रतिशत जनता के पूजनीय भगवान राम व माता सीता के प्रति ऐसे बेहूदा चित्र बनाकर उनकी भावनाओं को ठेस पहुंचाई है। लेकिन यहां तो रशदी की 'शैतान की आयातों' की पुस्तक पर प्रतिबंध लगेगा, 'सहमत' पर नहीं। क्योंकि सरकार ने तो केवल मुस्लिम समाज की भावनाओं का आदर करना ही सीखा है। हिन्दू समाज व उसकी भावनाएं भाड़ में जाएं। उनसे सरकार को कुछ लेना-देना नहीं है। तभी तो देश में शाहबानो केस में संविधान बदला गया। चार शादियों को आज भी मान्यता दी जा रही है। जबकि शेष देश को 'हम दो, हमारा एक' का नारा दिया जा रहा है लेकिन मुस्लिम समाज को मर्द एक और औरत चार की स्वीकृति दी जा रही है।

जो भी कुरीतियां सरकार को दिखती हैं वह केवल हिन्दू समाज व धर्म में ही दिखती हैं। समाज सुधार के नाम पर आये दिन हिन्दू समाज के रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप किया जाता है। अगर कोई इस हस्तक्षेप को राजनीति से प्रेरित होने की दुहाई देता है तो उसे साम्प्रदायिक कहा जाता है जबकि सरकार स्वयं सम्प्रदाय व जाति विशेष को खुश करने के लिये हर सीमा तोड़ती दिखाई दे रही है।

धर्मनिरपेक्षता के नाम पर हिन्दुओं की भावनाओं का अनादर हो रहा है। सरकार इस स्थिति से जरा भी चिंतित दिखाई नहीं दे रही क्योंकि उसे एहसास है कि हिन्दू इतना विभाजित व कमजोर है कि वह कुछ नहीं कर सकेगा। राजनीति के प्रति हिन्दू समाज की उदासीनता का सरकार भरपूर लाभ उठा रही है।

प्रश्न यह है कि कब तक हिन्दू भावनाओं का अनादर किया जायेगा? कब तक राष्ट्रहित को धर्मनिरपेक्षता के नाम पर अनदेखा किया जायेगा? कब तक तुष्टिकरण की नीति अपना कर सत्ता बनाई जा सकेगी? शायद कुछ वर्ष और। लेकिन वह दिन दूर नहीं जब सरकार को हिन्दू विरोधी नीति को त्यागना पड़ेगा व सच्चाई को स्वीकार कर चलना पड़ेगा।

इस देश की पहचान के प्रतीक राम व कृष्ण को मान्यता देनी पड़ेगी तथा हिन्दू समाज की भावनाओं का आदर करना पड़ेगा।

हिन्दू देववाद की पृष्ठभूमि

ईश्वर क्या है? ईश्वर एक वृत्त है जिसकी परिधि कहीं नहीं है और केन्द्र सर्वत्र है। उस वृत्त में प्रत्येक बिन्दु सजीव, सचेतन, सक्रिय और समान रूप से क्रियाशील है। हम सीमित आत्माओं में केवल एक बिन्दु सचेतन है और वह केन्द्र आगे-पीछे गतिशील रहता है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड की तुलना में समस्त विश्व कुछ नहीं है। जब हम कहते हैं, ईश्वर बोलता है तो इसका अर्थ है कि वह अपनी सृष्टि के माध्यम से बोलता है। जब हम उसका वर्णन उसे देशकाल से परे कहकर करते हैं, तब हम कहते हैं कि वह निर्गुण सत्ता है; किन्तु वह रहता है वही सत्।

हम यहां खड़े हैं और सूर्य को देख रहे हैं। कल्पना करो कि तुम सूर्य की ओर जाना चाहते हो। कुछ हजार मील उसके निकट पहुँचने पर तुमको एक दूसरा सूर्य दिखायी पड़ेगा, और अधिक बड़ा। मान लो तुम और अधिक निकट चले जाते हो, तब तुम और भी बड़ा सूर्य देखोगे। अन्त में तुम वास्तविक सूर्य देखोगे, करोड़ों मील विशाल। कल्पना करो कि तुम इस यात्रा की अनेक चरणों में विभाजित करके प्रत्येक स्थान से चित्र लेते हो और वास्तविक सूर्य का चित्र लेने के बाद वापस लौटकर सब चित्रों की तुलना करते हो; तब वे सब तुमको भिन्न प्रतीत होंगे, क्योंकि प्रथम दृष्टि में वह एक छोटा लाल गोला था और वास्तविक सूर्य करोड़ों मील विस्तृत था। तथापि सूर्य वहीं था।

यही बात ईश्वर के सम्बन्ध में है। अनन्त सत्ता को हम भिन्न-भिन्न दृष्टि - बिन्दुओं से, मन के भिन्न-भिन्न स्तरों से देखते हैं। निम्नतम मनुष्य उसे पितर के रूप में देखता है। जैसे जैसे उसकी दृष्टि अधिक व्यापक होती है, वह उसे एक ग्रह के शासक के रूप में, और अधिक व्यापक होने पर विश्व के नियन्ता के रूप में तथा उच्चतम मनुष्य उसे अपने ही समान देखता है। ईश्वर वही था और भिन्न-भिन्न अनुभव केवल दृष्टि के परिमाण और भेद थे।

'देव' शब्द का प्रयोग सामान्यतः पूज्य जनों के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए किया जाता है। महर्षि यास्क ने 'निरुक्त' में 'देव' शब्द का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है:-

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता।

अर्थात् 'देव' वह है जो धन-धान्य देता हो अथवा जो दीप्तिमान् या द्युतिमान् हो अथवा जिसका स्थान 'आकाश' में हो। वह विद्वान् पुरुष भी देव है, जो अपने

साथी मनुष्यों को विद्या या ज्ञान का दान देता है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र तथा आकाश भी देव हैं क्योंकि वे समस्त सृष्टि को प्रकाश देते हैं।

"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव" तथा "अतिथिदेवो भव" इत्यादि वाक्यों में 'देव' शब्द उपर्युक्त अर्थों का वाचक है।

हिन्दु-दर्शन के अनुसार निराकार परम ब्रह्म भक्तों के प्रेमवश तथा उनके उद्धारार्थ साकार रूप से प्रकट होता है - "स ऐक्षत, एकोऽहं बहुस्याम्" अभिप्राय यह कि वह परमपिता परमेश्वर ही अनन्त रूपों, गुणों तथा नामों से इस दृश्यमान सचराचर जगत् में अभिव्यक्त हो रहा है। मानव-जीवन का लक्ष्य उस निर्गुण-निराकार परम ब्रह्म के साथ अद्वैत स्थापित करना है, जो मन, वाणी तथा इन्द्रियों से परे केवल ज्ञानस्वरूप है। उपासना तथा भक्ति परमतत्त्व के साथ ऐक्य भाव स्थापित करने का प्रथम सोपान हैं। वैदिक ऋषियों ने लौकिक संसार में, प्रकृति के मनोमुग्धकारी दृश्यों में, जहाँ जहाँ, जिस भी स्वरूप में परमात्मा को साकार-रूप में प्रतिबिम्बित होता हुआ अनुभव किया, वहाँ उसी स्वरूप में उस की वन्दना की। भक्त परमात्मा के जिस स्वरूप की कल्पना करता है, उसे ईश्वर के उसी रूप के दर्शन होते हैं। गीता के विभूतियोग, विश्वरूप-दर्शन तथा भक्तिपरक अध्यायों में यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट है।

वेदों में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेक नामों से भगवान् का स्मरण किया गया है। ऋग्वेद से इसकी पुष्टि होती है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि
यमं मातरिश्वानमाहुः।।

एक ही भगवान् को भक्तगण उनके अनेक गुणों के कारण बहुविध नाम-रूपों से स्मरण करते हैं। अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि नामों से उन्हीं का स्मरण लोग करते हैं। इसी मन्त्र के आधार पर निरुक्तकार ने यह विचार व्यक्त किया है-

महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।

अर्थात सौभाग्य अथवा ऐश्वर्य के कारण एक ही देवस्वरूप की बहुत रूपों में स्तुति की जाती है।

निरुक्तकार ने देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया यथा - पृथिवी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय वायु अथवा रुद्र तथा आकाश के देवता सूर्य। देवताओं के विविध नाम, उनकी कार्य शक्ति के द्योतक हैं। वेद के प्रत्येक मन्त्र का एक देवता है, जो भिन्न-भिन्न शक्तियों तथा क्षमताओं से युक्त है। ये परम ब्रह्म के भिन्न-भिन्न गुणों के प्रतिनिधि हैं। छान्दोग्योपनिषद् में जाज्वल्यमान आदित्य के पीछे छिपे हुए कृष्ण अर्थात् अदृश्य पुरुष को आदित्य का प्रेरक कहा गया है।

वैदिक देवता द्योतनशील गुण के कारण भी देव कहे गए। समय-समय पर आने वाली दैवी आपदाओं तथा उनसे मुक्ति ने अनेक पौराणिक रहस्यपूर्ण कथाओं को जन्म दिया। वेदोक्त परम तत्त्व ब्रह्म पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वामन, मत्स्य, नृसिंह आदि अनेक रूपों में अवतरित हुआ। उस 'परमतत्त्व' ने काली, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती इत्यादि विविध रूपों में स्वयं को प्रकट किया। एक-एक देवता को प्रधानता देकर विभिन्न पुराणों की रचना की गई। प्रत्येक पुराण के अधिष्ठाता देवता के नाम-रूप परमातमा के ही नाम रूप हैं। इनका आध्यात्मिक महत्त्व होने के साथ ही ये स्वरूप मनोविज्ञान, सृष्टि के सूक्ष्म रहस्य तथा भौतिक विज्ञान के सूक्ष्म संकेतक भी हैं।

देवभूमि शस्यश्यामला वसुन्धरा के जनमानस की देवकल्पना ही हमारी संस्कृति की आधारशिला है। जीवन की सहजता जब सौम्यता का परिधान पहन कर सत्यं, शिवं, सुन्दरं से अपने को सजाती -संवारती हैं तब संस्कृति जन्मती और रूप ग्रहण करती है। उसकी अपनी एक प्रवाही सजीवता होती है जिसके एक तट पर मुखर होता है – 'येन चेतनेन निश्चयम्' और दूसरे पर 'यत् एतत् चिदात्मकम्' । अलक्ष्मण - रेखी मंझधार मानो निनादित करती है – ' धियो यो नः प्रचोदयात् '।

हमारी देव–कल्पना के आधार पर देवताओं का वर्णन वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, पुराण, धर्मशास्त्र, तंत्रशास्त्र, दर्शन, निरुक्त, रामायण, महाभारत तथा महाकाव्य आदि सभी भारतीय शास्त्रों में उपलब्ध होता है।

वेदों में 'देवता' शब्द जड़ तथा चेतन पदार्थों दोनों के लिये प्रयोग किया जाता है। ऋग्वेद में पहला मंत्र ही अग्नि देवता का है। "ओम्–अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्यदेवं ऋत्विजम् होतारं रत्न धातमम्।"

देव- कल्पना के संदर्भ में देवों की संख्या का प्रसंग भी महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद ३।९।९। में ३३३९ देवता बतलाये गये है तथा ८,२८,१।८,३०,२।१,३४,११ में ३३ देवता ही बतलाये हैं। अथर्ववेद १०,७,२३ में भी ३३ देवता बतलाये गये हैं।

शतपथ ब्राह्मण के १४वें काण्ड में ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति ये ३३ देवता बतलाये गये हैं। महाभारत अनुशासन पर्व १५० अध्याय में ८ वसु,११ रुद्र तथा १२ आदित्यों के बाद (इन्द्र और प्रजापति के स्थान पर) नासत्यं और दस्र नामक दो अश्विनी कुमारों को गिनाकर ३३ देवता कहे गये हैं।

आठ वसु

(१) धर (२) ध्रुव (३) सोम (४) आप (जल) (५) अनिल(वायु) (६) अनल(अग्नि) (७) प्रत्यूष (८) प्रभास ये आठ वसु बतलाये गये हैं।

ग्यारह रुद्र

शतपथ ब्राह्मण ११।६।३।७ में दस प्राण और आत्मा इन ११ को ही ग्यारह रुद्र बताया गया है।

'देवता' कौन है? साधारण बोलचाल में 'देव' और 'देवता' पर्यायवाची हैं। वस्तुतः, दोनों में मौलिक अन्तर है। 'द्युतिमान्', 'दानशील' या 'द्युलोकवासी' होने से 'देव' कहा जाता है। 'देव' शब्द में उक्त तीनों भाव निहित हैं। 'देवता' इससे कुछ भिन्न है। 'देव' जातिवाचक संज्ञा है लेकिन 'देवता' जातिवाचक नहीं। वह भाववाचक संज्ञा है और स्त्रीलिंग में ही उसका प्रयोग होता है। वस्तुतः, दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। 'देवता' का अर्थ 'देव' नहीं, 'देवत्व' है। पूजा तो देवत्व की की जाती है, किसी व्यक्ति की नहीं। आवश्यक नहीं कि जिसमें देवत्व हो, वह कोई व्यक्ति ही हो। उसका 'द्युलोकवासी' होना भी आवश्यक नहीं लेकिन 'दानशील' या 'द्युतिमान्' होने के भाव उसमें अवश्य निहित हैं। वह व्यक्ति न होकर कोई पदार्थ भी हो सकता है। 'द्युति या प्रकाश' भी किरणों से युक्त होना आवश्यक नहीं। ज्ञान, श्री, यश आदि प्रकाश के ही वाचक हैं। इन गुणों

से युक्त जीवित या मृत मानव, प्राणी या पदार्थ 'देव' है। प्रधानतः 'विभूतिमत्त्व' की है।

'देवता' के प्रत्यय ने भारतीय संस्कृति में एक बेजोड़ और अनूठी भावमयता उत्पन्न कर दी है। इसी दृष्टि ने गंगा और गाय को देवता की श्रेणी में ला दिया है। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव' का प्रवचन भी इसी दर्शन का प्रतिफल है। 'देवत्व' के दर्शन की यह चाह ही भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता, वर्धिष्णु वृति और अमरत्व का मूल है।

'देव' शब्द के पर्यायवाची के रूप में 'सुर' और विलोमवाची के रूप में 'असुर' का बहुशः प्रयोग होता है। लेकिन मौलिक स्तर पर 'देव' और 'असुर' शब्द ही साथ–साथ प्रयोग में आये हैं। कुछ लोगों का खयाल है कि 'सुरा' पीने के कारण 'सुर' और न पीने के कारण 'असुर' कहलाये। यह असंगत है। सुरा का पान तो असुर ही करते थे, देवता को 'सोम' अर्पित किया जाता था। 'सोम' आजकल उपलब्ध न होने या अज्ञात होने से उसके बारे में विवाद भले ही हो, लेकिन उसे 'सुरा' (मदिरा) कहना तो विपरीतमतित्व ही है।

'असुर' का अर्थ है 'शारीरिक बलसंपन्न'। जो लोग 'शारीरिक बल' के आधार पर अपने सभी व्यवहार चलाते हैं वे मानव, प्राणी या पदार्थ 'असुर' हैं। यों, देवों की स्तुतियों में भी उन्हें शक्तिसंपन्न होने से 'असुर' कहा गया है। फिर भी, उनकी पूजा उनके शारीरिक बल के भय से नहीं, उनकी लोकोपकारकता के कारण की जाती है। पाश्चात्य विचारकों ने 'देवता' की कल्पना में भय को मूल माना है। इसमें वास्तविकता कम ही है। भय तो असुरों से ही हो सकता है, जिनसे बचाने के लिए देवाराधन की आवश्यकता होती है।

अखण्ड देश के पोषक

पुराणों में 'दिति' और 'अदिति' के पुत्रों को क्रमशः 'दैत्य' और 'आदित्य' कहा गया है। वैदिक साहित्य में **'अदितिः अखण्डनीया भवति'** अर्थात् 'अदिति अखण्डनीया होती है' अर्थ लिया जाता है। 'अदिति' भूमि का पर्यायवाची है। अखण्ड मातृभूमि ही 'अदिति' है। 'दैत्य' वे हैं जो 'विभाजनवादी' हैं, इसके विपरीत आदित्य – गण 'अखण्डता के पोषक' हैं। 'दैत्य' ब्राह्मणों या बुद्धिजीवियों में होते है। 'आदित्य' भी नित्य हैं। 'आदित्यों' के १२ गण मानवों के ही विविध वर्ग हैं।

इस प्रकार, 'देवता' याने देवत्व एक नित्य तत्त्व है, वह किसी भी देश – काल – व्यक्ति – वस्तु में हो सकता है। फिर भी देवत्व- युक्त प्राचीन पुरुषों और पूर्वजों की स्मृति भी व्यक्ति और समाज में श्रद्धा का कारण बनती है। नित्य देवता गुणबोधक होते हैं। और हम उनसे शिक्षा ग्रहण कर अपने जीवन का सुधार करते हैं। पूर्वज कालान्तर या देशान्तर में देवता बन जाते हैं, वे हमारे आदर्श या नमूने बन जाते हैं। कष्ट के समय व्यक्ति उन्हें स्मरण कर मनोवैज्ञानिक ऊर्जा प्राप्त करता है।

जब देव – काल था

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण – ग्रन्थों में कई बार आता है कि " **अग्नि** देवताओं से छुप गया", यह निश्चय ही सृष्टि के इतिहास की एक घटना का सूचक है। वेद और यज्ञ – संस्था के उदय से पूर्व, इस पृथ्वी पर रहने वाले मानवों की कथा देवों और असुरों से ही सम्बद्ध है। उसे हम 'देव – काल' कह सकते हैं। तब पृथ्वी के गोले की अग्नि पूरी तरह बुझी नहीं थी। स्थान – स्थान पर अग्नि आजकल के तालाबों के जल की तरह दृश्य थी। उस समय १२ आदित्यों के गणराज्य थे। इसी तरह असुरों के भी गणराज्य थे। तब राजतन्त्र का उदय नहीं हुआ था। निर्वाचित प्रतिनिधि को ही

'राजा' नाम प्राप्त हुआ था – वह शब्द गणराज्य के प्रमुख के लिए ही सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ था।

पर्वतमेरु (पामीर) पर तब उत्तरी ध्रुव था जो क्रमशः उत्तर की ओर खिसक कर अब वर्तमान स्थान पर होगया है। और उस पर उत्यन्त ऊंचा बर्फ का शिखर सुशोभित था। उसके चारों ओर देवताओं के गणराज्य चारों समुद्रों तक फैले थे। हिमालय, गन्धमादन (क्यूनलन), मन्दराचल (याब्लोनाय) पर्वतों पर देवगण विहार करते थे। त्रिविष्टप (तिब्बत) स्वर्ग – भूमि का केन्द्र था, जिसके पूर्व में इन्द्र का राज्य था और पश्चिम में वरुण का। दोनों ही सम्राट् थे। वरुण का राज्य भूमध्यसागर, लालसागर, अरब सागर तक फैला था। इन्द्र का साम्राज्य उदयाचल तक था। इस पर्वत का अधिकांश प्रशान्त महासागर में डूब गया था, उसके ही कुछ ज्यादा ऊँचे भाग आस्ट्रेलिया फिलीपीन्स, जापान, कोरिया, साइबेरिया के पूर्वी भाग में (स्टेनोवाय पर्वत) अवशिष्ट हैं। इन्द्र ने शताधिक अश्वमेध किये थे ; जबकि वरुण ने राजसूय किया था। ये दोनों यज्ञ वैदिक संस्था के पूर्व भी विद्यमान थे। शूलगव नामक कर्म भी वेद – पूर्व प्रचलित था।

और फिर आया वेद – काल

अथर्वा प्रथम ऋषि थे, जिन्होंने वेद और यज्ञ को एक संस्था का स्वरूप दिया। यहां से हम 'वेदकाल' मान सकते हैं। उस समय तक इन्द्र, वरुण, मित्र, अश्विनी कुमार आदि पूर्वजों तथा सूर्य, अग्नि, मरुत् आदि प्राकृतिक शक्तियों के रूप में सृष्टिकर्ता शक्ति की उपासना विभिन्न देशों में प्रारम्भ हो चुकी थी। अथर्वा ने विभिन्न देशों में उपास्य सभी देवताओं को मान्यता दी और उनके लिए यज्ञों में आहुतियाँ देने की विधि का प्रारम्भ किया। उस सम्बन्ध में अनेक मत हैं, स्थानाभाव से यहाँ उनका विवेचन नही कर रहे हैं।

कालान्तर में, कथा – साहित्य को प्रधानता मिलती गयी। वैदिक भाषा प्राचीनता के साथ – साथ बोधगम्य न रह गयी। लौकिक संस्कृत के प्रारम्भ होने पर पौराणिक देवताओं का उदय हुआ। देव – काल के पूर्वज कथा – नायकों का रूप महिमा - मण्डित हुआ। उनमें सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ वैदिक ईशान देवता की उपासना - परम्परा में एक तरुण योगी, जिसने अपने पूर्व - जीवन का कोई परिचय कभी किसी को नहीं दिया।

शिश्न – पूजा नहीं, लिंगोपासना

कैलास – पर्वत क्षेत्र में साधना – रत उस योगिराज की सेवा - वृत्ति, ज्ञान, और पराक्रम ने लोक - जीवन को प्रचुर आश्रय प्रदान किया। रुद्र – सम्प्रदाय का ११ वाँ प्रवर्तक होने से, वह ११ वाँ रुद्र हुआ। वह शिव या महादेव कहलाया। उसके द्वारा 'ॐ' की उच्च ध्वनि की जाने से, वहाँ की जनता उसे 'बम – बम' शब्द करती हुई प्रसन्न करती थी। उस समय जनता की शिश्न – परायणता तथा शिश्नोपासना की प्रथा का निवारण करने के लिए शिव ने अपना एक प्रतीक बनाया उन्होंने उसे 'लिंग' (अर्थात् चिह्न) नाम दिया। वह चिह्न था – योनि – रूप आधार पर विपरीतमुख शिश्न। संकेत

था कि व्यक्ति को धर्म – पालन हेतु योनिपरायणता से विमुख होना आवश्यक है। यह कैसे सम्भव होगा ? तो इस चिह्न (लिंग) की मूर्ति पर जल चढ़ाने से यह योनि – विमुखता माने ब्रह्मचर्य की साधना सम्भव होगी। संकेत यह था कि शिश्न का (पुरुष) और योनि का (स्त्री) जल से प्रक्षालन करें तो कामोत्तेजना शान्त होगी। फिर इस चिह्न पर काले नाग को लिपटा हुआ उत्कीर्ण किया। आशय था कि काम पर विजय प्राप्त करने से 'कुण्डलिनी' जागृत होगी। इसकी जागृति होने पर योगी समाधि में आरूढ़ होता है।

इस तरह शिव ने शिश्न-पूजकों को योगसाधना की विधि प्रतीक रूप में सुगम तरीके से समझाकर प्रचारित की, जिसे प्रतीकोपासना, लिंगोपासना और कालान्तर में मूर्तिपूजा कहा गया। आगे चलकर 'लिंग' को भी 'शिश्न' का पर्यायवाची मान लिया गया, जो अर्थ वहाँ मूलतः था ही नहीं।

सुतरां, शिव द्वारा प्रचारित यह प्रतीक ही मूर्तिपूजा का आदि रूप था। शिव 'कामारि' कहलाये। उस महायोगी ने लोक पर अतिकृपा कर ब्रह्मचर्य और साधना को लोकप्रिय बनाया। यदि 'लिंगोपासना' शिश्नपूजा होती, तो ऐसा हो ही नहीं सकता था।

शिवलिग ब्रह्माण्ड-विश्व पूजा का भाव प्रतीक के स्वरूप में है ।

एक वह तपस्विनी

कालान्तर में, लोकहित में शिव ने दो विवाह किये। पहला दक्षपुत्री सती और दूसरा उमा हेमवती (अर्थात् 'हिमवान्' नाम के एक पर्वतीय राजा की बेटी, न कि हिंमालय पहाड़ की) से। उमा ने क्षेत्रीय जनता की इतनी सेवा की कि वह 'पर्वत की बेटी' बन गयी। शिव से विवाह के लिए वह तपस्विनी 'अपर्णा' बनी। उस 'पार्वती' से विवाह हुआ शिव का। फिर भी, पार्वती निष्काम ही रहीं। उन्होंने गणराज्य के एक 'विनायक' (एक विशिष्ट पद पर प्रतिष्ठित) तरुण को पुत्रवत् स्नेह दिया बाद में, 'हेरम्ब' नामक वह तरुण देव – गणराज्यों का राष्ट्रपति या प्रमुख चुना गया और उसे 'गणपति' या 'गणेश' कहा गया। शिव के अयोनिज पुत्र 'कुमार' को प्रारम्भ में कृत्तिका नाम की ६ योगिनियों ने पाला ; अतएव वह 'कुमार कार्तिकेय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उमा की अपनी कोख की कोई संतान नहीं। वह किसी पुत्र की जननी न होकर भी, जगदम्बा बनीं। उमा ने दोनों बेटों को प्यार से पाल्य और योग्य बनाया। कार्तिकेय देव – सेनापति हुए। शिव का यह परिवार ही पौराणिक देवताओं में ४ देवताओं का समूह है। इन्हीं के उपासकों की बड़ी संख्या भारत में उत्तर से दक्षिण तक प्रसृत है। इस परिवार के सदस्यों के पावन चरित्र भारत के जन – मन को अधिकाधिक आकृष्ट करते रहे हैं।

मां की लज्जामयी छवि

देवराज्यों पर विपत्ति आने पर गौरी उमा क्रोधावेश से 'काली' बनीं। युद्धावेश में उन्मत्त देवी शत्रु – मित्र का भेद भूल गयी और सभी का संहार करने लगी। शिव उस दौड़ी आ रही शक्ति के रास्ते पर शवों के बीच लेट गये। देवी का पैर शिव पर पड़ा ; तो क्रोध का आवेश दूर हो गया। देवी का पगतल स्पर्श होते ही, प्रिय को पहचान गया। देवी लज्जामयी हो उठी और उसकी जीभ विस्मय से बाहर निकल पड़ी। मां का यह पावन लज्जा – रूप भक्तों का परम उपास्य बन गया।

का नायक तो प्रायः लम्बोदर हो जाता है, सो वह लम्बोदर के रूप में ही पूजित हुआ। मोटा नेता मूषक की सवारी भले ही न कर सके ; लेकिन दफ्तरों में भ्रष्ट कर्मचारी और [illegible] रूप मूषक ([illegible] धन को मूष याने चुरा लेने में कुशल) ही उन राजनेताओं के [illegible] का वहन करने से गणपति के वाहन – रूप हैं। जननायक को अपने प्रभाव के भार से उन्हें दबाएं रखना चाहिए। यही चूहे की सवारी का आशय है।

कैसा चाहिए गणराज्य का नेता?

गणराज्य के नेता को बोलना कम, सुनना अधिक चाहिए, अतएव हाथी की तरह सूप जैसे कान (दुर्भाग्य से आज के नेता बोलते बहुत ज्यादा, सुनते कम हैं)। उस की भाँप लेने या सूँघने की शक्ति तीव्र होनी चाहिए ; अतएव हाथी जैसी सूँड़। मोदक तो उसे प्रिय है ही ; लेकिन हाथी जैसा मुख और लम्बोदर होकर भी वह खाता सूक्ष्म ही है सो एक दन्त है वह। आँखें छोटी अर्थात् सूक्ष्म – दर्शी होनी चाहिए।

हेरम्ब चाहे जैसे रहे हों किन्तु पूजनीय रूप प्रतीकमय और नित्य है। भक्तों को प्रेरणा दे, वही देवता का स्वरूप हुआ। हर देवता का [illegible] उपास्य हुई, जो भक्त को भा गयी। शास्त्रों में देवमूर्ति का जो वर्णन है, उसमें देवता के अंग – प्रत्यंग, आयुध, अलकार आदि सभी कुछ मानव – जीवन के लिए कोई न कोई प्रतीक रूप में संदेश देते हैं।

'विग्रह' शब्द से भी आशय इसी तरह का है – 'विशेष रूप से कुछ भाव ग्रहण करने का साधन'।

महाशिव ११ वें रुद्र के अंशावतार, महाकाली' के शक्तिमय विकट रूप वाले, वैष्णव महावतार राम के सेवक 'वज्रांग' (बजरंग) गाँव – गाँव, गली – गली पूजित देवता की तीन छबियाँ भक्तों को भायी – अपनी छाती चीड़कर राम – सीता की छबि दिखाते हुए, राम – लक्ष्मण को कन्धे पर चढ़ाये हुए और पहाड़ लेकर आकाश में उड़ते हुए।

'रावण' (रुलाने वाले) के उत्तर – स्वरूप 'मारुति' (मत रोना) के अंग – प्रत्यंग युद्ध में घावों से भर गये। सिन्दूर भाव भरता है। उसे घी में सान कर घावों में लगाया, तो सर्वांग सिन्दूरी हो गया। हनुमान जी के संदर्भ में यह वीरवेश भक्तों को सदैव स्वीकृत हुआ। आशय यह है कि पूरा शरीर घावों से भरा रहकर भी जो राम के काम में लगा है, उसे तन की सुधि ही नहीं, ऐसा आदर्श महावीर हमारा उपास्य है।

एक है, सर्वव्यापी भी

यहाँ कुछ देव – रूपों की व्याख्या कर के ही हम, देवता– तत्त्व की ओर फिर मुड़ते हैं। विधर्मियों का आरोप है कि हम हिन्दू बहुदेववादी हैं और वे स्वयं एकेश्वरवादी हैं। वास्तव में, विधर्मियों का ईश्वर सातवें आसमान पर सिंहासन पर बैठा है। हमारे देवता नाम – रूप से अलग होकर भी, एक ही ईश्वर के नाम –

रूप हैं – 'सर्वदेव-नमस्कारं केशवं प्रति गच्छति।' विभिन्न स्थानों और भाषाओं में पूजित होने के कारण उस एक ईश्वर के नाम – रूप अलग – अलग हो गये हैं। हिन्दुत्व ने उन सब को मान्यता भर दे दी है। वह अनेक देवता कभी नहीं मानता है। न ही वे अनेक देवता हैं। एक ही व्यक्ति किसी का पिता, किसी का माँमा, किसी का भाई, किसी का पुत्र, किसी का गुरु, किसी का शिष्य, किसी का मामा, किसी का भांजा, किसी का नाना, किसी का नाती और जाने कितने नाम और नाते – रिश्तों से पहचाना जाता है, विभिन्न वेशों के द्वारा कितने ही रूप धारण करता है– नाटक में वही राजा वन जाता है ; तो कभी भिखारी। इसी तरह ईश्वर की उपासना मन चाहे रूप और नाम से कर लेने की छूट हिन्दुत्व का बड़प्पन है, न कि कोई धर्म की भूल। ईश्वर स्वयं सारे विश्व को अपने में समेटे हुए है, वह 'विष्णु'(सृष्टि को बना कर उसमें प्रविष्ट हो गया) है, 'वासुदेव'(संसार में बसने वाला ईश्वर) और राम (कण – कण में रमने वाला) है – तो हम परमात्मा की उपासना एक ही समझकर करते हैं। उसकी व्यापकता के कारण हिन्दू दोषी नहीं है। यह तो पश्चिमी धर्मों की दार्शनिक दृष्टि है, जो उसे सातवें आसमान में ही मानती है। । ईश्वर को हम एक मानते हैं किन्तु एक देशी नहीं मानते । वह सर्वव्यापी है। ईश्वर की छबि सब ओर दिखायी देती है। हम सभी मनुष्य ईश्वर की ही संतान हैं और उसका संदेश हवा की हर झकोर, जल की प्रत्येक लहर, धरती के कण – कण से दूरभाष (टेलीफोन) की तरह हम तक आ रहा है। जो भी उससे अपना तार जोड़ लेता है, उसे ही संदेश प्राप्त है। हम ईश्वर के सभी संदेशवाहकों और पुत्रों का सम्मान करते हैं ।

मानना और जानना

हम हिन्दू 'मानने' भर पर विश्वास नहीं करते यह तो अन्धविश्वास है। जानने के बाद मानना ही 'विश्वास' है। हम 'जानने' के बाद 'मानने' वाले हैं। हम ईश्वर के विश्वासी हैं और हम जान गये हैं –

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

अर्थात् ईश्वर एक ही है और वह सब प्राणियों में छिपा हुआ है। वह सब में व्यापक रूप से स्थित है और वह कोई अलग नहीं – वह तो सब प्राणियों का अन्तरात्मा है।

इतना स्पष्ट रूप से श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण की उद्घोषणा के बाद भी न माने, तो वह ईमानदार कैसे ? वह अज्ञानी है ही।

ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी धारणा हमारी अपनी प्रतिच्छाया है। ईश्वर के सम्बन्ध में आदिम धारणा प्रकृति के विविध रूपों से उसका तादात्म्य कर देना था – प्रकृति – पूजा। अगली अवस्था में कबीलों के ईश्वर की पूजा हुई। इसके बाद की स्थिति में राजाओं की पूजा होने लगी।

स्वर्गस्थ ईश्वर की धारणा भारत को छोड़कर सभी जातियों में प्रधान है। यह भाव बहुत ही असंस्कृत है।

पहले था धर्म का अन्धविश्वास, अब है विज्ञान का अन्धविश्वास ; फिर भी पहले के अन्धविश्वास में से एक जीवनप्रद आध्यात्मिक भाव आता था, पर आधुनिक अन्धविश्वास के भीतर से तो केवल काम और लोभ ही आ रहे हैं। वह अन्धविश्वास था ईश्वर की उपासना को लेकर, और आजकल का अन्धविश्वास है महाघृणित धन, यश और शक्ति की उपासना को लेकर।

अभिव्यक्त ऊर्जा का परिणाम तो सदैव वही रहता है, इसलिये सुख की वृद्धि का प्रयास भी मूर्खतापूर्ण ही है। यह कहना कि दुःख से रहित सुख की प्राप्ति हो सकती है बिल्कुल निराधार है। सुख के साधनों को बढ़ाकर तुम लोगों की आवश्यकताओं को बढ़ा देते हो और आवश्यकताओं के बढ़ने का अर्थ है, उस पिपासा का जन्म जो कभी शान्त नहीं होने की। किस चीज से इस पिपासा को शान्त करोगे तुम? और जब तक यह पिपासा बनी रहेगी, तब तक अशान्ति रहेगी ही।

अति मानवी कल्पना देवी-देवता विकास की प्रक्रिया - उपासना का साधन माध्यम "प्रतीक पध्दति"-

धर्म ऋग्वैदिक आर्यो के जीवन का अंग था । स्वय के कल्याण के लिए शक्तियो पर निर्भर होने की उनकी भावना की अभिव्यक्ति अर्चना के माध्यम से प्रकट होती थी । वस्तुतः वेद कालीन मानव ने प्रकृति की विचित्र लीलाओं को सुगमतया समझने के लिए विभिन्न प्राकृतिक गतिविधियों को भिन्न भिन्न देवों की संज्ञा दी है । जिनके स्वरुप उद्‌भव तथा कृत्यो को ऋग्वेदादि सहिताएं कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत करते है । उनके कल्पनाशील त्रिधा विभक्त जगत, पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं आकाश प्रत्येक में देवताओं का निवास था । पाश्चात्य विचारकों ने देवताओं को प्रकृति का ही रुप माना पर भारतीय आध्यात्मिक चिन्तकों ने, विद्वानोंने प्रकृति की शक्तियों पर अध्यक्षता करने वाले चेतन तत्वों को ही देवत्व माना है । बादरायण ने इसी को लक्ष्य करके वेदान्त सूत्रों में कहा है अभिमानी व्यपदेशस्तु ।

वैदिक देव विकास की प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए अमूर्त तत्वों के मानवीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ऋग्वेद में अमूर्त अथवा भावात्मक देवताओं का वर्णन मिलता है । जो दो तरह के है, प्रथम वे जो कि मनोभावों के सीधे मानवीकरण है । यथा काम एवं श्रद्धा । द्वितीय तरह के देवता तृ प्रत्ययान्त है । इस प्रकार के देवता भावों के प्रतिरूप न होकर किसी देवता विशेष के विशेषणों से उद्‌भूत है । ये विशेषण ही धीरे धीरे अपने विशेष्य से पृथक हो गये तथा स्वतंत्र देवों के रूप में विकसित होते गये । "ऋग्वेद में अमूर्त देवों की विकास प्रक्रिया चरम सीमा पर थी जिसके फलस्वरूप अनेक देवताओं का प्रादुर्भाव होता गया ।

ऋग्वेद से लेकर महाभारत तथा पुराणों तक देवता, विकास की एक स्वतंत्र भूमिका है । यह प्रक्रिया एक क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक रूप से समाने आती है । वर्तमान में प्रचलित हिन्दु धर्म पूरी तरह वैदिक या उत्तर वैदिक काल में प्रचलित धर्म विश्वासों और प्रथा परम्पराओं का प्रतिबिम्बित नही करता । उस समय के इतिहास, संस्कृति और धर्मशास्त्रों का अवलोकन करें और बीच के समय तथा इतिहास को छोड़कर आज के प्रचलित धर्म विश्वासों को देखे तो प्रतीत होगा कि दोनों में कोई तारतम्य नही है । प्राचीन काल में न मन्दिर थे, न मूर्तियां थी । ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवों की भी आज जितनी प्रतिष्ठा नही थी । भक्ति मार्ग का वह स्वरूप नही था जो आज दिखायी देता है । यागादि कर्म काण्डो का जरूर बाहुल्य था । वेद शास्त्रों में बीज रुप से यह सब विद्यमान है लेकिन यह पल्लवित पुष्पित आगे चल कर ही हुआ । वर्तमान में जो देवताराधन प्रचलित है वह पौराणिक मूल पर ही कुछ अंशोसे आधारित

है । पौराणिक देवताओं का यदि क्रमबद्ध तथा तत्वाभिनिवेशी अध्ययन किया जाए, तो ऐसे चौकानेवाले सत्य, तथ्य अब उभर कर सामने आते है जो धार्मिकता के रूढ़ीवादी धरातल को परिवर्तित कर अन्ध विश्वासों की परम्परा का सर्वथा उन्मूलन कर सकते है । ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक देवता विकास की एक क्रमिक प्रक्रिया है जिसमें शतपथ ब्राह्मण की भूमिका अपरिहार्य है ।

प्रकृति के उग्र और सौम्य रूपों ने पर्वतवासियों को जहां अन्धविश्वासी, धार्मिक, अत्यन्त मितव्ययी, कष्टसहिष्णु, स्वार्थी, भाग्यवादी, संकिर्ण मनोवृत्तिवाला, रूढ़ीवादी बनाया था, वहां उनमें श्रद्धा और भक्ति की गहरी भावनाएं भरी थी । प्राचीन मान्यताओं के प्रति उनके हृदय में बड़ी निष्ठा थी । उन्हें सदा यह ध्यान रहता था कि कोई दैवी शक्ति उन्हें प्रति क्षण तथा प्रत्येक स्थान पर देख रही है । दानपत्रों में साक्षी के रूप में यही लिखा मिलता है— साषि प्रथम धर्म, सूर्यचन्द्रमसौ उसके पश्चात भूमण्डल का साषि में उपस्थित राज कर्मचारियों के नाम मिलते है । वे प्रायः सत्यवादी होते थे । धर्म की सौगन्ध लेकर झूठ नही बोल सकते थे । अहंकार-स्वार्थ-लोभ से अनभिज्ञ थे । असहाय, निर्धन, विधवा, कुंवारी नारी आधुनिकता बनाम मॉडर्न, उत्तेजक, कामुक, अर्ध नग्न, फैशन परस्त, भौतिक सुख-विलास के ऐषोआराम के साधनपूर्ती हेतू प्रलोभनों और धमकियों से प्रभावित नही हुयी थो ।

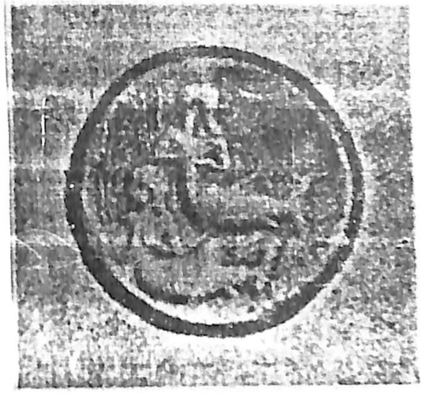
सर्वत्र देवी-देवताओं की उपस्थिति पर विश्वास था । इसलिए व्यक्तिगत स्वार्थ ही सब कुछ, पैसा ही ईश्वर नही बना था । दूसरे को अपनी स्वार्थ पूर्ती हेतू धोखा देना, छल-कपट करना, ठगना, अनुचित व्यवसाय के नाम पर लाभ उठाना यह सब महान पाप समझते थे । उनका विश्वास था कि उनके पाप कर्मो का प्रतिफल उन्हें और उनके वंशजों को अवश्य भुगतना पडेगा ।

प्रकृति का प्रकोप विपदाओं ने मानव पर्वतवासिओं के मन में भय से प्राकृतिक शक्तिओं के प्रती आस्थावान बनाया । इसी आस्था का रूपान्तर श्रद्धा तथा भक्ति की गहरी भावनाओं में हुआ । और इसीसे ईश्वरी शक्ति का मानवीय काल्पनिक रूप प्रार्दुभूत श्रद्धा द्वारा हो गया । उन्हें पहाड़ों के पर्वतीय प्राकृतिक सौन्दर्य, पर मुग्ध होकर, प्रत्येक छोटी बड़ी नदी के संगम पर, तंट पर, बड़े वृक्षों की छाया में सर्वत्र मानवेतर शक्तियों का अस्तित्व दिखायी दिया । वे श्रद्धा तथा भक्ति की धार्मिक भावना और सुरूचि-समृध्दी सम्पन्न थे इसी की परिणती उनके शास्त्रीय विधी से मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण मे हो गयी थी । हिमालय के सास्कृतिक इतिहास अतीत एवं अनागत के लिए उसके मन्दिरों और उपलब्ध मूर्तियों का अध्ययन

आवश्यक है । कुछ मन्दिर और मूर्तियां ऐतिहासिक समस्याएं सुलझाने के लिए सहायक हो सकती है ।

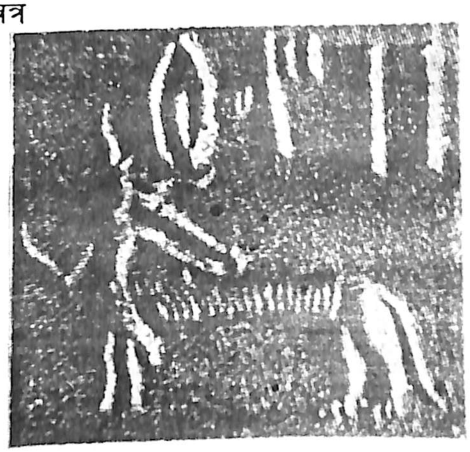
वेदों में भगवान विराट पुरूष के केवल एक ही मुख (सिर), दो बाहु और दो पगों का ही उल्लेख है । भगवान विराट पुरूष को मानव रूपधारी माना है । मानव इन मानवाकर देवी-देवताओं को अपने सुख-दुःख मे परित्राण करने के लिए आज तक पूजता आ रहा है । सौभाग्य से भगवान विराट पुरूष श्रीपरशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीसीता, श्रीराधा, श्रीशिव उमा, श्रीगंगा, श्रीहनुमान आदि मानवाकार में ही बने रहे और मानवों के हृदय पटल से कभी दूर नही हुये । देवी-देवताओं के मुखों और हाथों में वृद्धि किये जाने से वे मानवाकर नही रहे और मानवेतर मानवों से दूर चले गये । प्रतिमाकारों ने कुछ प्रतिकोको व्यक्त करने के लिए देवी देवताओं के मुखों की वृद्धि करने की मानसिक कल्पना सोची । ब्रह्मा को एक साथ चारों वेदों का पाठ करनेवाला सूचित करने के लिए उसके चार मुखोकी एवं प्रत्येक मुख के सामने वेद लिए रहने की कल्पना की गयी । इससे ब्रह्मा के चार मुख और चार हाथ दिखायी जाने लगे । चारों ओर से एवं उपर से भी कल्याण का आशीर्वाद देनेवाले सूचित करने के लिए शिव जी के पांच मुखों की कल्पना की गयी । त्रिगुणातीत शक्ति-संत्-रज-तम के लिए सूचित करने हेतू त्रिमूर्ती तीन मुख शिव की कल्पना । चर्तुवर्ग प्रदाता विष्णु के लिए चार हाथो की कल्पना करके उनमें चर्तुवर्ग के प्रतीक शंख, चक्र, गदा, पद्म दिखायी जाने लगे । सर्व शस्त्रभृतां वरः सारे शस्त्र-अस्त्रों को धारण करनेवालों में श्रेष्ठ दिखाने हेतू देवी-देवता की प्रतिमा बनाते समय समस्या उत्पन्न हुई कि दो बाहुओंवाले मानव रुपवाले किसी देवी या देवता को समस्त आयुधों का प्रयोग करने वाला कैसे दिखाएं । देवी देवता की बाहुओं में आयुध दिखाने के लिए उनकी बाहुओं की संख्या बढ़ानी आवश्यक समझी गयी । फलतः उनकी अधिक बाहु प्रतिमाओंमें दिखाई जाने लगी । पैरों से आयुध नही चलाएं जाते, इसलिए बाहुओं की संख्या वृद्धि की कल्पना कर लेने पर भी, देवी-देवताओं के पैर दो ही बने रहे ।

जिन्हें परमात्मा के जिन गुणों ने प्रभावित किया, वे प्रभु को उन नामों से पुकारने लगे । ऐश्वर्यवान होने से इन्द्र, स्नेही होने से मित्र, आत्म योगी एवं विद्वानों द्वारा पूज्य होने से वरूण, ज्ञान स्वरूप होने से अग्नि, प्रकाशमय होने से दिव्य, सबका पोषक होने से सुपर्ण, महान होने से गरूत्मान, सर्व नियता होने से यम, अंतरिक्ष एवं प्रकृति में प्रेरक होने से मातरिष्वा, सबका कल्याण करने वाला होने से शंकर, विश्व का पालक-पोषण कर्ता होने से विष्णु, सृजनकर्त्ता होने से ब्रह्मा, सनातन-चिरन्तन होने से शिव आदि एक ही परमात्माके हजारों नाम उसके गुण विशेष से दिये गये । प्रतिमाकारों ने उनके नाम शब्दार्थ के आधार पर



मेसोपोटामिया की बटन मोहर, जिस पर जल पुरूष और जल परी अंकित है । यद्यपि यह सिन्धु मोहरों में नही मिलती, पर इस अवधारणा का भारत में विष्णु के मत्स्य अवतार के रूप में विकास देवता का हुआ ।

सिन्धु मोहर पर पुरुष व्याघ्र, विष्णु के नरसिंह अवतार का आद्य रूप । पहले दो हैरो भाव चित्र



उनके आकार की कई असम्भव कल्पनाएं की । यथा रावण का दशानन नाम होने से उसके दश शिरों की, रावण का सेनानायक खर के नाम से गर्दभ सिर की, रावण के दूसरे सेनानायक त्रिशिरा के नाम से उसके तीन सिरों की, परम पराक्रमी सहस्त्रबाहु के नाम से उसकी अनेक बाहुओं की, असुरराज महिषासुर के नाम से उसके महिष (भैंसा) के शिर की, महान योगी दत्तात्रेय के नाम से उनके तीन शिरों की आदि ।

उस वक्त उपासना का साधन माध्यम प्रतीकों के द्वारा सन्देश दिया जाता था । इस प्रतीक से तात्पर्य किसी वस्तु, तथ्य या तत्व के प्रती ज्ञान कराने का संकेत । उन्होंने जीवन की विभिन्न घटनाओं, कर्तव्यों, प्रक्रियाओं को प्रतीकों के माध्यम में रूपायित किया ।

संकीर्ण प्राकृतिक सीमाओं ने पर्वतवासियों को संकीर्ण मनोवृत्ति वाला बना दिया था । उनकी दृष्टी अपने पडोसियों की त्रुटिया देखने में ही लगी रहती थी । किसी कार्य या योजना के उज्ज्वल पक्ष की उपेक्षा करके वे उनमें प्रायः छिद्रान्वेषण करते थे । और तिमिरावृत्त पहलू को ही देखते थे । प्रचलित लोकोत्तियोंसे विदित होता है कि उनमें अपने पडोसियों के प्रति ईर्ष्या की भावना बड़ी प्रबल थी । अपरिचित व्यक्तियों से उन्हें झिझक थी । दूसरों की कुदृष्टी से वे बहुत घबराते थे । उन्हें भावी संकट की चिन्ता नित्य सताती रहती थी । विपत्ती में सभी देवी-देवता, भूत-प्रेतों की मनौती मानते थे । पर देवी देवताओं की पूजा में, सम्बन्धियों के स्वागत में पशुओं का सिर काटने पर तत्पर रहते थे। इसलिए जादू-टोना, भूत-प्रेत आदि पर उनका गहरा विश्वास था । जनता घोर अन्धविश्वासी और अशिक्षित थी । नारियों को तंत्र-मंत्र, झाड़ा-ताड़ा, उखेल भेद, दाग, घात पर दृढ़ विश्वास था । इसी से मृतकों की पूजा परम्परा शुरू हुई । पौराणिक जनश्रुतियाँ, आख्यानों पर ग्राम देवी देवताओं का स्वरूप शास्त्रीय देवी-देवताओं का पाने लगे । तथा ग्राम देवों को शास्त्रीय शिव की या उसके गणों की, नाग आदि को कृष्ण या विष्णु की, क्षेत्ररक्षक देवताओं को गणेश, हनुमान आदि की विभूतीयों से सम्पन्न बताया जाने लगा । किसी भी देवी मन्दिर में चण्डी पाठ होने लगा । शिव मन्दिर में रूद्राभिषेक करवाये जाने लगे । देवी, भैरव, नाग, नरसिंघ, काली आदि की पूजा में पशु बलि का विकृत व्यापक प्रचार था । मारे गये बकरे, भेड़, भैसों के रक्त का टीका सिर पर लगवाना भी ऐसे ही विकृत प्रचार को सौभाग्यप्रद समझा जाता था ।

इन सभी वक्त वक्त की देवी-देवताओ के निर्माण प्रक्रिया वृद्धि करते समय इस मूलभूत मानवी तथ्य को आध्यात्मिक चिन्तन धारा को भूला दिया कि वेद में भगवान विराट पुरूष को मानव रूपधारी ही माना गया है । और केवल एक मुख, दो बाहु, दो पगों का उल्लेख है ।

बाल्मीकि कृत रामायण में किष्किन्धा के बनवासीयों की उच्च और समृध्द सभ्यता और वैभव का, आर्यजनों जैसे सस्कारों का, वेद और व्याकरण के अध्ययन का, प्रासाद, वेषभूषा, जीवन प्रणाली का अत्यंत भव्य चित्रण है । बाली, सुग्रीव, हनुमान, जामवन्त आदि को बाल्मीकि ने वनप-ऋक्ष, वानर (वा+नर = नरों में श्रेष्ठ) तो कहा पर उन्हें बन्दर-भालू नहीं बतलाया । वें वनांचल की कई जन जातियों के समान कमर पर 'लांगुल' (रस्सी, तिगड़ा, कमरबन्ध) लपेटा करते थे । 'ऋक्ष-वानर और 'लांगुल' के आधार पर प्रतिमाकारो ने उनकी पूंछधारी भालू-बन्दर पशुओं के रूप में कल्पना कर डाली । कालान्तर में जन मानस भी इन सभी मानवों की शरीराकृती वैसी ही मानने लगा । देवी-देवता, सुर-असुर, दानव, राक्षस, यक्ष., वानर, गन्धर्व, किन्नर, अप्सरा, नाग यह सभी मानव की शरीराकृति वाले मानव मात्र थे । और इनके नर-नारी एक दूसरे से विवाह आदि सन्तान उत्पन्न कर सकते थे । यदि ऐसा न होता तो राक्षस रावण मानव नारियों का अपहरण क्यों करता ? सूर्य आदि देवताओं द्वारा मानवी कुन्ती से पांडवों का, और अंजना से हनुमान की उत्पत्ति कैसे होती ? अर्जुन द्वारा नाग कन्या उलुपी से इरावन पुत्र कैसे होता ? हिडिम्बा-भीम मिलन से घटोत्कच कैसे होता ? बाणासुर असुरराज की पुत्री उषा का अनिरुध्द के साथ विवाह आदि । वैदिक काल के प्राथमिक युग में मानवी गुण विशेष से चार भाग यानी जातीयों की कल्पना की गयी थी । और इनके मानवी गुण -स्वभाव विशेष आधार स्तम्भ पर 1. सुर 2. असुर 3. दानव 4. अहि (नाग) जाती या वंश मानव जाती के थे ।

ऋग्वेद के समय विक्रम से तेरह-बारह शतीयाँ पूर्व काल में ऋग्वेद में भारत के आदिम निवासी पर्वत वासी आर्येतर जन-जातियों के लिए राक्षस, दानव, असुर और अहि शब्दों का प्रयोग बिना भेदभाव के किया गया है, वे गिरी के दास (ऋग्वेद 6-26-5), राक्षस (ऋग्वेद 6-62-9), दानव (ऋग्वेद 2-11-10), असुर (ऋग्वेद 10-138-3) और अहि (= नाग) कहलाते थे ।

" यं शम्बर पर्वतेषु क्षियन्तचत्वरिंश्या शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजयमानं यो अहि जधान दानु शयान स जनसि इन्द्र : ।।"
ऋग्वेद – 2/12/11

प्रिप्रु के लिए दास और असुर (ऋग्वेद–10/138/3) तथा शम्बर के लिए अहि और दानव (ऋग्वेद–2/12/11) शब्दो का प्रयोग एक साथ मिलता है ।

परवर्ती साहित्य मे इन जातियो के लिए तिरस्कार सूचक दास या दस्यु शब्दो का प्रयोग नहीं मिलता । उनका वर्णन राक्षस, दानव, असुर और नाग (अहि) नामो से मिलता है । जो इनके जातीय नाम प्रतीत होते है । परवर्ती इतिहास मे हम उपरोक्त पर्वताश्रयी हिमालय के निवासीयो के रुप मे पाते हैं । प्रसगवश ऋग्वेद में समकालीन पर्वतीय पर्वताश्रयीओ की असुर सभ्यता के सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएं मिलती है । इन सभी को प्रायः इन्द्रादि देवताओं का विरोधी बतलाया गया है । ऋग्वेद इन आर्य शत्रुओं को अदेवयु (देव विरोधी) तथा देवताओं में श्रद्धा न रखने वाला, शिश्न देव (लिंग रुप मे) शिव पूजक बतलाता है । असुर शब्द से यही व्यक्त होता है । आर्यो के लिए समान असुर भी अपनी पशु सम्पत्ति गौ और अश्वों के लिए प्रसिद्ध थी । असुरों के पशुओं को ऋतुविशेष में चराने हेतु चरिष्णु या अस्थाई ब्रज-खरक होते थे । शम्बर और वर्चिन जैसे शक्तिशाली नरेशों के भी अपने व्रज थे । जहाँ वे समय समय पर स्वय भी ठहरते थे । इनके गावों के अतिरिक्त छोटे बड़े नगरों की सम्भावना भी प्रतीत होती है । ऐसे नगर सम्भवतः मैदान और हिमालय पर्वत की सम्मिश्रणभूमि या शिवालिक की ढालों पर रहे होगें । जिन्हे पर्वत और मैदान के मध्य व्यापार के कारण महत्व मिला होगा । सामरिक दृष्टि से तो उनका महत्व था ही । ऋग्वेद में शिश्नदेव पूजकों के सौ द्वारवाले एक नगर का उल्लेख है । (ऋग्वेद–10/19/3), प्रिपृ (ऋग्वेद–1/51/5 तथा 10/138/3), वंगृद (ऋग्वेद–1/53/8), वृत्र, शम्बर वर्चिन आदि असुर नरेशों के सैकड़ो शिलाओं से बने दुर्ग थे । (ऋग्वेद 2/14/6; 6/31/24)

जो लौह दुर्गो के समान सुदृढ़ था । (ऋग्वेद–4/30/20)

ऋग्वेद में वर्णित असुरो की विशेषताओं का (ऋग्वेद–9/61/20; 10/142/4; 9/96/1; 2/24/2; 1/134/7 आदि) परवर्ती साहित्य में यद्यपि अति रंजित वर्णन मिलता है, फिर भी यह निश्चित है कि ऋग्वेद में जिन्हें गिरि के दास, राक्षस, दानव, असुर, अहि कहा गया है, जिनके नरेश मायावी शम्बर, वृत्र, वर्चिन, नमुचि, वृषशिप्र तथा भेड़ आदि बतयाए गये हैं वे महाभारत और पुराणों के दानव-असुर-नाग से भिन्न नहीं है । महाभारत एवं पुराणो का पर्याप्ति अंश असुरों की वीर गाथाओं से भरा है जिन्होने अपने प्रदेश के स्वतंत्रता हेतू आर्य जनों से / नवागन्तुकोसे संघर्ष किया । अधिकांश असुरों

का सम्बन्ध हिमालय से जोड़ा गया है । असुर पाषाणयोधा थे । देवासुर-संग्राम मे उन्होने पार्वती (पर्वतो से सम्बन्धित) माया का प्रयोग किया था ।
परवर्ती साहित्य में कुछ असुरों को किन्नर, किरात, यक्ष, नाग, कहा गया है ।

मन में किसी मूर्ति के बिना आये कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है, जितना श्वास लिये बिना जीवित रहना। साहचर्य के नियमानुसार भौतिक मूर्ति से मानसिक भावविशेष का उद्दीपन हो जाता है, अथवा मन में भावविशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप मूर्तिविशेष का भी आविर्भाव होता है। इसीलिये तो हिन्दू आराधना के समय बाह्य प्रतीक का उपयोग करता है।

दृष्टि और दायरे जाति सिद्धान्त सामाजिक संरचना के मूल तत्त्व

"बृहत्तर भारत – पद का प्रयोग अभी कुछ काल पहले से ही शुरू हुआ है। पिछले इतिहासलेखक मानते थे कि पर्वतों और सागरों से परिवेष्टित भारत ने एक अप्रतिम सभ्यता का विकास किया था। परन्तु उसके विकास में भारत ने न तो अपने पड़ोसी किसी देश के प्रभाव को स्वयं ग्रहण किया और न किसी को अपने से प्रभावित ही किया। बहुत समय तक लोग इस विचार को सही मानते रहे, परन्तु अब यह माना जाने लगा है कि भारतीय इतिहास तथा उसकी सभ्यता का कोई भी अध्ययन, जब तक हिमालय और सागर – पार – स्थित एशिया महाद्वीप के विशाल भू – खण्डों के इतिहास एवं सभ्यता को ढालने में भारतवासियों के योगदान का आकलन न करलें, अधूरा ही रह जायेगा।"

(डा. आर. सी. मजूमदार 'ग्रेटर इण्डिया')

आर्यों के प्राचीनतम साहित्य – ऋग्वेद में समुद्री यात्राओं की दुर्घटनाओं की अनेक गाथाएं हैं। इतना ही नहीं, समुद्र मंथन से समुद्र की पुत्री लक्ष्मी के प्राप्त होने की घटना के द्वारा पौराणिक गाथा भी स्पष्ट करती है कि समुद्री मार्गों द्वारा समस्त संसार में जाकर व्यापार करने से धन की प्राप्ति होती है।

मध्य – एशिया से संबंध

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के पुरातात्विक अनुसंधानों ने निःसंदेह यह प्रमाणित कर दिया है कि ४ हजार वर्ष से भी अधिक पहले से भारत एवं पश्चिमी देशों के बीच सांस्कृतिक आदान – प्रदान विद्यमान था। इस विषय में बोगाज़कोई (Bohgaz koi) के प्राप्त शिलालेखों का भी उल्लेख किया जा सकता है, जिनमें प्रसिद्ध वैदिक देवताओं के नाम आए हैं।

मात्र अशोक के शिलालेखों में ही नहीं वरन् अल बेरूनी (Alberuni) ने भी उल्लेख किया है कि "पहले समय में खुरासान, फारस, इराक़, मोसल और सीरिया तक की सीमाओं का प्रदेश बौद्धधर्मावलम्बी था।" इन देशों में ब्राह्मण धर्म का प्रसार भी था, इसके प्रमाण भी मिलते हैं।

ईसाईमत पर भारतीय प्रभाव

सन् ३०४ ई. के लगभग ईसाइयों ने सन्त ग्रेगरी के नेतृत्व में "गिसाने" (Gisane) और देमेत्र (Demetre) के मंदिर ध्वस्त कर दिये। इस घटना की पुष्टि सीरिया के लेखक जेनाब (Zenob) के लेख से भी होती है। 'गिसाने' निश्चित रूप से 'कृष्ण' का परिवर्तित रूप प्रतीत होता है। १५० ई.पू. कृष्ण – सम्प्रदायी भारतीय अनुयायिओं की अच्छी संख्या अरमीनिया में बस गई थी।

थेबेड (Thebaed) में वैराग्यभावना की अति लोकप्रियता,

ईसाई मतों में अवशेष पूजा (Relic worship) तथा माला के प्रयोग का कारण भी स्वभावतः भारतीय प्रभाव ही है। विद्वान पादरी 'ओरिगन' (Origen) (सन् १८५ ई.) पुनर्जन्म में विश्वास रखता था। यह भी उल्लेखनीय है कि ईसाई गिरजाघरों और बौद्ध चैत्यों के सारभूत तत्वों में भी एक निकट साम्य था।

खौतान में भारतीय प्रभाव

दूसरी शताब्दी ईसा के मध्य लगभग पूरे खौतान में प्रतिदिन के प्रशासन – कार्यों में भारतीय भाषा का प्रयोग था। यह खौतान में प्राप्त सिक्कों और हस्तलिखित ग्रन्थों से सकारात्मक और निश्चित रूप से प्रमाणित होता है। वहाँ के अधिकारियों के नाम जैसे – भीम, बगसैन, नन्दसैन आदि शुद्ध भारतीय हैं। वहाँ के सरकारी पद भी जैसे – यथाचार (Secret Agent) लेखाहारक (Letter Carrier), दूत (Messenger), राजद्वार पुरष्ठित (President of Royal Court) आदि भी परिचित से प्रतीत होते हैं। तिब्बत की उत्तरीय सीमाओं से आगे और पामीर के पठार से भी अधिक दूर आगे तक गोबी मरुस्थल की सीमाओं पर भी दूसरी शताब्दी के लगभग भारतीय प्रशासन दूर तक में आया हुआ प्रतीत होता है।

मध्य एशिया में भारत को लगभग सम्पूर्ण सांस्कृतिक विजय प्राप्त हुई। भारतीय धर्म, भारतीय कला, भारतीय वर्णमाला, भारतीय अंक (जिन्हें अरबों ने 'हिन्दसा' की संज्ञा दी और योरुप को अरबों से उनका ज्ञान हुआ अतएव उन्होंने हिन्दू अंकों (भारतीय अंकों) को 'अरबिक अंक' कहा। साहित्य तथा इन सभी से बढ़कर भारतीय विचारों और रीतिरिवाजों ने और अधिक प्रचुरता से इन दूरस्थ देशों को प्रभावित किया एवं वहां के यायावरीय (Nomadie) निवासियों को सभ्य बनाया। इन क्षेत्रों की दो प्रधान भाषाओं कुन्ची (Kuchean) और खौतानी में लिखे हुए मध्य एशिया के हस्तलिखित ग्रन्थों की लिपियाँ भारतीय गुप्त लिपि की ही रूपान्तर हैं।

मुहम्मद इब्न – मूसा अल ख्वारज़मी ने भारत के एक खगोल वैज्ञानिक ग्रन्थ का अरबी में अनुवाद कर अरबों में भारतीय खगोल विद्या का ज्ञान फैलाया। उसने ही गणित पर भी एक पुस्तक लिखी, जिसकी सहायता से न केवल अरब जगत बल्कि मध्ययुगीन योरुप भी (१२वीं शती में – लातिनी भाषा में हुए अनुवाद की बदौलत भारतीय गणनाप्रणाली से परिचित हुआ। बगदाद और दमिश्क – मध्य एशिया और भारत के विद्वानों के भेंट-स्थान थे।

ग. बोंगार्द – लेविन और अ. विगासिन – 'सोवियत संघ में प्राचीन भारतीय सभ्यता का अध्ययन।')

सर ओरेल स्टीन को मरुस्थल के नीचे दबे नगरों के ध्वंशावशेषों को खोदकर निकालने पर उनमें भारतीयता की इतनी छाप देखने को मिली कि उनको लगा कि वह पंजाब का कोई ध्वस्त पुराना नगर ही हो।

इण्डोनेशिया

किसी समय इण्डोनेशिया बृहत्तर भारत की पूर्वी सीमा बना हुआ था। इण्डोनेशिया के जावा और सुमात्रा द्वीपों में विशाल हिन्दू राज्य और साम्राज्य थे। आज भी वहाँ के निवासी अपनी पूर्व हिन्दूसंस्कृति पर गर्व करते हैं, यद्यपि वह इस्लाम धर्म अपना चुके हैं। वहाँ के दो महान मंदिर बरोबुदूर (बौद्ध) और प्रम्बनन, जिनका निर्माण ८वीं शती में हुआ था, आज भी संसार के लिए

आश्चर्यजनक बने हुए हैं।

हिन्दू राज्यों की शक्ति का १४वीं शती से ह्रास होने लगा। अंततः, अन्तिम हिन्दू राजे पहले जावा और अन्त में बाली द्वीप में सिमिट गए। अन्तिम हिन्दू राजा डचों के द्वारा पराजित किया गया। फिर भी, वहाँ के निवासियों की अपने धर्म और संस्कृति के प्रति जागरूकता के कारण बाली द्वीप में हिन्दुत्व का वर्चस्व आज भी है। जावा में भी विशेष कर मध्य और पूर्वी भाग में हिन्दू संस्कृति का उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण भाग है।

इण्डोनेशियाई मुस्लिमों के द्वारा रामायण की गीत-नाटिका का मंचन संसार में की जाने वाली रामायण की गीत – नाटिकाओं (Ballets) में सर्वश्रेष्ठ है।

जोगजकार्ता का 'प्रम्बनन' नामक शैव मंदिर एशिया के प्रमुख मंदिरों में है। उसकी दीवारों पर रामायण अंकित है। मंदिर का निर्माण ८वीं शती में मातरम के हिन्दू राज्य द्वारा हुआ था।

चीन

कर्नलटाड ने राजस्थान के इतिहास में लिखा है कि पौराणिक दृष्टि और चीन के मूल ग्रन्थ से चन्द्र वंश की उत्पत्ति एक ही प्रकार से हुई है। पुराणों के अनुसार, चन्द्र के पुत्र 'बुध' और उसकी पत्नी वैवस्वत मनु की कन्या 'इला' से चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई। चीन के मूल ग्रन्थ के अनुसार फी (बुध) नामक ग्रह ने किसी स्त्री से बलपूर्वक सहवास किया जिससे उत्पन्न पुत्र का नाम 'यू' (आयु) रक्खा, जिसने चीन को ९ भागों में बाँट कर राज्य करना प्रारम्भ किया। स्पष्ट है कि तातारियों का 'आयु' चीनियों का 'यू' और पौराणिक 'आयु' एक ही व्यक्ति के पृथक – पृथक नाम हैं। महाभारत में इसी चन्द्रवंश में महाराजा 'आयु' हुए हैं।

चीन के प्रसिद्ध विद्वान 'ओकाकुरा' का कथन है कि चीन की सभ्यता और धर्म का मूल भारत में ही था। एक समय चीन के लोपांक नामक एक ही प्रान्त में दस हजार हिन्दू परिवार और तीन हजार बौद्ध साधु अपने – अपने धर्म का प्रचार करते थे। प्रसिद्ध चीनी ग्रन्थ चोकिंग की कथाओं से ज्ञात होता है कि चीनियों के पूर्वज 'फोही' नामक पुरुष के नेतृत्व में २१०० ई.पू. पश्चिम देशों की उच्च भूमि, कश्मीर, पंजाब आदि से आकर चीन में बसे थे।

अमरीका

जर्मन दार्शनिक और पर्यटक वैरन हम्बोल्ट की साक्षी है कि अमरीका में प्राचीन हिन्दू पहिचान चिह्न मौजूद है। पोकक की राय में पेरुवासियों के आचारों से प्रतीत होता है कि उनका भारतवासियों से सम्बन्ध रहा है। 'स्कपाट' के मत से दक्षिण भारत और भारती द्वीपों के बौद्ध मंदिरों और मध्य अमरीका की अनेक अट्टालिकाओं की शिल्पविद्या में एक अनुरूपता झलकती है।

अमेरिका में भी भारत की तरह पृथ्वीपूजा प्रचलित थी। स्पष्ट है कि 'बृहत्तर भारत' वस्तुतः 'जगद्गुरु भारत' है और हिन्दू जाति साम्राज्यों की विजय के बजाय हृदयों पर विजय प्राप्त करती आयी है –

... विहार ... [illegible] समग्र परिवर्तनों के उपरान्त भी अद्यतन अपने मूल रूप में विद्यमान रहने वाली विश्व की एकमात्र संस्कृति हिन्दू संस्कृति है जिसने अपने तत्वज्ञान, सांस्कृतिक समृद्धि, आर्थिक समृद्धि एवं पराक्रम से समग्र विश्व को आकर्षित किया। शोपेनहावर जैसे विख्यात जर्मन दार्शनिक के अनुसार "अगर किसी को ब्रह्माण्ड का सबसे विकसित मस्तिष्क देखना है तो उसे निश्चित रूप से भारतीय आकाश के नीचे ही आना होगा।"

वह भारतीय संस्कृति जिसने मनुष्य तो क्या कीट-पतंगों और यहाँ तक कि पत्थर के टुकड़े में भी ब्रह्म का रूप स्थापित किया, उस [illegible] में वर्णव्यवस्था जैसा सामाजिक वैषम्य इतना महत्त्वपूर्ण स्थान कैसे बना ले गया, यह आश्चर्यजनक है। आवश्यकता है इस बिन्दु के सम्यक तटस्थ और वैज्ञानिक विश्लेषण की। सर्वप्रथम हम यह देखें कि वर्ण का आधार क्या है।

आधुनिक समाज में वर्ण–व्यवस्था सर्वाधिक आलोचना का केन्द्र है क्योंकि यह मानव समाज में समानता के भाव के अनुकूल नहीं है। समानता और असमानता को सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो हम पायेंगे कि समानता और असमानता मूलतः दृष्टि–भेद से उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, एक कुर्सी व एक मेज असमान हैं, क्योंकि वस्तुतः वे अलग–अलग हैं परन्तु 'तत्त्वतः' दोनों ही लकड़ी हैं अतः समान भी हैं। लोहा व लकड़ी दोनों भिन्न है, परन्तु तत्त्वतः दोनों ही ठोस पदार्थ (Solid) हैं अतः समान भी है। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में तत्त्वतः समान होते हुए भी उनकी वस्तुतः असमानता के कारण ही उनकी उपयोगिता है। ... पेड़, तख्ता, दरवाजा, मेज सभी लकड़ी हैं - सभी समान हैं। यदि सभी को लकड़ी बना दिया जाय तो उनकी उपयोगिता नष्ट हो जायेगी।

इसी प्रकार हमारे यहाँ सम्पूर्ण मानव जाति का तत्त्वतः इसी आधार पर गढ़ा।

मानव की एकात्मता

इस व्यवस्था में शूद्रों का सम्बन्ध चरणों के साथ स्थापित देखकर कुछ लोगों ने उनकी हीनता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है, जो उचित नहीं प्रतीत होता है ; क्योंकि चरण वास्तव में संचरणशीलता और गतिमयता के ही प्रतीक हैं। समाज को आगे बढ़ाने के लिए शिर की जितनी उपादेयता है, उससे चरणों की कुछ अधिक ही है। फिर समग्र शरीर में एक ही रक्त का प्रवाह ऊपर से नीचे तक होता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण समाज वास्तव में 'एकात्म मानव' ही है, जिसे पैर में चोट लगने पर भी उतना ही कष्ट होता है, जितना शिर में।

हिन्दू धर्मग्रन्थों का गंभीरता से अध्ययन करने पर ऐसा नहीं प्रतीत होता कि 'शूद्र' नाम से अभिहित हिन्दू–बन्धुओं के प्रति सामाजिक अन्याय की भावना प्राचीन समाज में विद्यमान थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२.२९, ११, १५) में धर्मतत्त्व की अनुभूति और अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में शूद्रों को भी सबके साथ उपयोगी बतलाया गया है–

> सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च – स्त्रीभ्यः
> सर्ववर्णेभ्यश्च धर्मविशेषान् प्रतीयादित्येके।

काशी हिन्दूधर्म का प्रमुख केन्द्र रही है। उसके निवासियों के विषय में, वेंकटाध्वरि कृत 'विश्वगुणादर्श चम्पू' में कहा गया है कि काशीवासी ब्राह्मण शूद्रों के द्वारा लाये

जल से स्नान, आचमन, देवों का स्नापन,भोजन-पाचन सभी कर्म करते रहे है – 'शूद्राहृतैरम्बुभिः स्नाति, आचामति, देवताः स्नपयति, स्वैरं पचत्योदनम्।' यद्यपि यह नाटक लिखा गया है १७वीं शती ई. में, तथापि इसका आधार प्राचीन आचरण ही है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ का रचयिता

'ऐतरेय ब्राह्मण' सदृश प्राचीनतम यज्ञविधान-परक ग्रन्थ, जिसकी मान्यता वेद के रूप में है, का रचयिता महिदास ऐतरेय शूद्र बतलाया गया है, रथकार और निषाद जैसे शूद्रवर्णीय जन अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास जैसे यज्ञों का अनुष्ठान करने के अधिकारी रहे हैं (सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र ३.१) विश्वजित यज्ञ के अनुष्ठाता चक्रवर्ती सम्राट को दीर्घ काल तक निषादों की बस्ती में रहना और उन्हीं के भोजन को ग्रहण करना पड़ता था (शांखायन ब्राह्मण (२५.१५)।

बौधायन धर्मसूत्र, जिसकी प्राचीनता असंदिग्ध है, ने निषादों को यज्ञोपवीत संस्कार का अधिकार दिया है (२.१३-३)। आचार्य बादरि के मत से शूद्र भी वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का अधिकारी है (पूर्व मीमांसा सूत्र ६.१.२७)। गौतम धर्मसूत्र ने भी शूद्रों को पाकयज्ञ और श्राद्ध करने का अधिकार दिया है (१०.६४)। इस व्यवस्था को देखते हुए गौतम धर्मसूत्र का वह सूत्र प्रक्षिप्त प्रतीत होता है, जिसमें शूद्र को धर्मशास्त्र के अध्ययन से वंचित किया गया है (अथ हास्य वेदमुपश्रृण्वतः २.३४)। भारद्वाज श्रौतसूत्र (५.२.८) के अनुसार शूद्रवर्ण को अग्नायाधेय के अनुष्ठान का अधिकार है। गौतम धर्मसूत्र (६.१०) के अनुसार वृद्ध शूद्र को भी अल्पवयस्क ब्राह्मण शिष्टाचार के नाते प्रणाम करें।

सभी धर्मसूत्रों ने निरपवाद रूप से शूद्रवर्ण के लोगों को भी अन्य वर्णों के समान सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया है। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में 'शूद्रसेना का भी उल्लेख किया है(अर्थशास्त्र ९.२)। इस वर्ण में वस्तुतः वे लोग थे, जो अकुशल श्रमिक (Unskilled labour) थे, और कुशलता प्राप्त करते ही वे सामाजिक दृष्टि से ऊपर उठ जाते थे। वेद की पावन वाणी बिना भेद-भाव किये सभी के लिए समान रूप से ग्राह्य थी –

यथेमां वाचं कल्याणीमवदानि जनेभ्यः उत शूद्र उतार्ये।

वाणी का गौरव

वेदोत्तर काल में भी लोमहर्षण सूत, कवष ऐलूष (दासी पुत्र), शबरी, निषादराज, दादू, पलटू,रैदासी धुनिया प्रभृति महापुरुष शूद्र होने पर भी सम्पूर्ण समाज की श्रद्धा के पात्र बने और उनके मुख से निकली कल्याणमयी वाणी को सभी वर्णो के लोगों ने बड़े आदरभाव से सुना।

सन्त-साहित्य की बहुत बड़ी थाती, शूद्रकुलोत्पन्न महात्माओं की ही वास्तव में देन है – जिस पर समग्र हिन्दू-समाज को गर्व और गौरव है। शूद्रों के ही समान, चाण्डालों और श्वपचों (भंगियों) के सन्दर्भ में भी अन्याय करने का दोष हिन्दू धर्मशास्त्र पर बहुधा आरोपित किया जाता है। 'चाण्डाल' के विषय में मूलगामी तथ्य यह है कि यह चण्ड अर्थात् उग्र या

क्रूरकर्म करने वालों का समूह था। इनमें ज्यादातर शिकारी या बहेलिए (व्याध) थे, जिनका व्यवसाय पशु और पक्षियों की हिंसा से सम्बद्ध था। 'चण्ड' शब्द में आलुच प्रत्यय लगकर बना 'चाण्डाल' शब्द मूलतः इन्हीं क्रूर कर्मीजनों का वाचक है। पशु-हिंसा के कारण जनसामान्य की संवेदना को आहत होने से बचाने के लिए बहेलियों और शिकारियों के निवास की व्यवस्था गाँव के मध्य में न करके किनारे की गई। ऐतिहासिक दृष्टि से यह वह समय था, जब जैन मुनियों और बौद्ध आचार्यों ने समाज में हिंसा के पूर्ण विपरीत वातावरण बना रखा था। आज भी 'पोस्ट मार्टम कक्ष' अस्पताल के किनारे ही बनाया जाता है। व्याधबन्धुओं में भी, तत्वज्ञान के क्षेत्र में यदि कोई ऊपर उठ जाता था, तो उसकी बात को सभी बड़े मनोयोग से सुनते थे और समाज में उसे प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो जाती थी।

महाभारत में धर्मव्याध के द्वारा उपदिष्ट गीता प्राप्त होती है। धर्मव्याध खटिक कुलोत्पन्न थे और विचार के क्षेत्र में, उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े उच्चवर्णीय पुरुष उनके समीप सविनय उपस्थित होते थे। व्याध-गीता मानवीय कर्त्तव्यों के निर्धारण में आज भी प्रामाणिक मानी जाती है।

जहाँ तक शिर पर मल ढोने की कुत्सित प्रथा का प्रश्न है, उसका उल्लेख हिन्दू-धर्म के किसी भी ग्रन्थ में नहीं है। यह वस्तुतः मुस्लिम आक्रमणकारियों के आने और उनके शासक बन जाने पर प्रारम्भ हुई। उससे पहले भारतीय घरों में सामान्यतः शौचालय बनाने की प्रथा ही नहीं थी। निवृत्ति हेतु लोग खेतों या मैदानों में जाते थे, लेकिन मुस्लिम-समाज में प्रचलित पर्दानशीनी को ध्यान में रखकर घरों में शौचालय-निर्माण की प्रथा आरम्भ हुई। कुछ आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से दुर्बल लोगों को जोर-दबाव से मलोत्सारण-हेतु शासकवर्ग ने विवश किया। 'मार-मार कर पानी बना देने' की कहावत आज तक चली आती है। इस प्रकार मेहतर जातियों को मल की ढुलाई के कारण वास्तव में मुस्लिम शासक हैं, हिन्दू-धर्मशास्त्री नहीं।

औचित्य नहीं है। ब्राह्मण होने भर से ही किसी को महत्त्व प्राप्त होना तो महाभारत-काल में ही समाप्त हो गया था। जिस युग में, इस देश में, दूध-घी की नदियां बहती बतलाई जाती हैं, उस युग में भी ब्राह्मण द्रोणाचार्य का बेटा अश्वत्थामा दूध के नाम पर आटे का घोल पीता हुआ दिखलाई देता है। महाभारत में व्यास जैसे महान् ज्ञानी की बात भी कोई नहीं सुनता उनका कथन है। –

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नहि कश्चित् शृणोति मे।

(मैं ऊंचा हाथ उठाकर कहता हूँ, फिर भी कोई मेरी बात नहीं सुनता।)

महाभारत और उसके परवर्ती युग में, जब जाति - प्रथा की जड़ें मजबूत हुईं, ब्राह्मण - वर्ग एक समूह के रूप में कोई भूमिका निभाने की स्थिति में ही नहीं रह गया था। उसकी यह हैसियत ही कहाँ रह गई थी कि वह कोई व्यवस्था दे सकता, या पूरा समाज उस व्यवस्था को 'ब्रह्म वाक्य' मानकर उसके पीछे चल पड़ता! महाभारत के बहुसंख्यक श्लोकों में, पतित, मद्यप, जड़, उन्मत्त, युद्धकारी, व्यापारी और धनी ब्राह्मणों को किसी भी प्रकार का सम्मान न देने का निर्देश प्राप्त होता है–

यावन्तः पतिता विप्रा जडोन्मत्तादयोअपि च,
दैवे च पित्र्ये ते विप्रा राजन् ! नार्हन्ति सत्क्रियाम् ।।

रणकर्त्ताच यो विप्रो यश्च वाणिज्यको द्विजः।
प्राणिविक्रयवृत्तिश्च श्राद्धे नार्हन्ति सत्क्रियाम्।।

ब्राह्मणो [illegible] [illegible]नाग्निरिव शाम्यति।
तस्मै श्राद्धे न दातव्यं नहि भस्मनि हूयते।।

श्राद्ध में लाखों मूर्ख ब्राह्मणों को भोजन कराने के स्थान पर एक वेदज्ञ को ही भोजन कराने का विधान है।

यः सहस्रं सहस्राणां भोजयेदनृतान् नरान्।
एकस्तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति भारत।।

उपर्युक्त सभी श्लोक महाभारत के आश्वमेधिक और अनुशासन पर्व के हैं। इसी अनुशासन पर्व के एक श्लोक के अनुसार, शीलरहित उच्चवर्ण का व्यक्ति आदरणीय नहीं है, जबकि धर्म का जानकार और शीलवान शूद्रवर्ण का भी व्यक्ति परम आदरणीय है–

ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत्।
अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमभिपूजयेत्।।
(४८.४८)

इस प्रकार मूलतः वर्ण–व्यवस्था अपने वास्तविक स्वरूप में, अन्याय, घृणा–द्वेष या विषमता का यथासंभव परिहार करती हुई सामाजिक समरसता और पारस्परिक सहयोग की भावना पर ही प्रतिष्ठित दिखलाई देती है। आपाततः, इसमें किसी भी वर्ण के प्रति पक्षपात और विद्वेष का प्रदर्शन नहीं प्रतीत होता।

तीन ही वर्ण

उल्लेखनीय है कि वैदिक ग्रन्थों से यह संकेत प्राप्त होता है कि आरम्भ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य तीन ही वर्ण थे। शुक्लयजुर्वेद (१७.१०.१२) में इकट्ठा ब्रह्म, क्षत्र, और विट् मात्र का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.१२.९.२) में वर्णों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में ऋक्, यजुः और साम से क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय, और ब्राह्मण की उत्पत्ति बतलायी गयी है, किन्तु शूद्र के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (२.१.४.११) में भूः, भुवः, और स्वः से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य की उत्पत्ति निरूपित की गयी है, किन्तु शूद्र की उत्पत्ति की चर्चा नहीं की गयी है। गौतम – धर्म सूत्र (२.३.२) में आर्यों को त्रैवर्णिक माना गया है।

वस्तुतः, शूद्र वर्ण की हैसियत एक प्रकीर्ण वर्ण की – सी है। उसका सारा क्रिया – कलाप प्रथम तीन वर्ण आपस में बाँट ले सकते हैं। वस्तुतः, शूद्र वर्ण जैसे एक सेवक वर्ग की अनिवार्यता प्राचीनों ने उसी प्रकार अनुभव की होगी जिस प्रकार अरिस्तू जैसे यूनानी दार्शनिक को दास वर्ग की अनिवार्यता अनुभव हुई थी। अस्तु, प्राचीन काल में शूद्र वर्ण अथवा दास – वर्ग चाहे जितना भी अनिवार्य रहा हो, आज दासता – प्रथा का अन्त हो चुका है, और शूद्र वर्ण जैसे एक पृथक वर्ण का भी अन्त हो जाना चाहिए।

स्मृतियाँ तात्कालिक व्यवस्थाएँ

हिन्दू धर्मग्रन्थों में, वेद जहाँ सनातन सत्य के प्रतिपादक माने जाते हैं, वहीं स्मृतियों की मान्यता समयसापेक्ष रूप में ही है। स्मृति–ग्रन्थों की मान्यता वहीं तक है, जहाँ तक उनका श्रुति (वेद) से विरोध न हो। शकों, हूणों, कुषाणों और अन्यान्य विदेशी आक्रमणकारियों के दुष्प्रभावों से समाज की सुरक्षा करने के लिए, विभिन्न कालों में रचित स्मृतियों में, जातिगत अंकुश कड़े–से–कड़े होते चले गये। वर्ण–

व्यवहार के स्थान पर अत्यारोपित आर्षेय संघन, स्मृतिकारों के द्वारा, [illegible] इन नाचारों के कारण संभाव्य सामाजिक स्खलन को रोकने के लिए एक औजार बना दी गई। वह सार्वकालिक नहीं है। उनमें सामाजिक एकता को विच्छिन्न करने वाले बहुत से श्रुतिविरुद्ध अंश भी प्रक्षेपवश मिल गये हैं जो आज अग्राह्य ही हैं।

आज 'मनुस्मृति' के कुछ ऐसे ही अंशों की बहुत चर्चा की जाती है, हिन्दुत्व पर उनके आधार पर आक्षेप भी किया जाता है, जो अनुचित है। मनुस्मृति हिन्दू धर्म का एकमात्र प्रतिनिधि अथवा प्रमाणग्रन्थ नहीं है। वह हिन्दू–समाज की सुदीर्घ वैचारिक यात्रा का एक पड़ाव है, अन्तिम लक्ष्य या गन्तव्य नहीं है। सामाजिक व्यवस्था के हिन्दू विधान का यह प्रथम आलेख है लेकिन अन्तिम नहीं। उदाहरण के लिए भारत–यात्रा के लिए निकले पर्यटक की दृष्टि में लखनऊ स्टेशन एक पड़ाव भर है, सम्पूर्ण भारत नहीं। इसी प्रकार वैदिक युग से लेकर अद्यावधि हिन्दू–मनीषा ने जो मानस–मन्थन किया है, मनुस्मृति उसका एक छोटा–सा अंश भर है, वह समग्र हिन्दू–चिन्तन और व्यवस्था–विधान की प्रतीक नहीं है। हिन्दुत्व अंशी है, मनुस्मृति अंश। 'मनुस्मृति' के बाद भी सैकड़ों स्मृतियों की रचना हुई, जो इस तथ्य की साक्षी है कि हिन्दू–समाज उससे आगे की वैचारिक यात्रा तो बहुत पहले ही आरम्भ कर चुका है। प्रथम विधि–निर्माता के रूप में, ऐतिहासिक दृष्टि से, भले ही मनु का महत्त्व हो, लेकिन उनकी सम्पूर्ण व्यवस्था का पुरोवर्तन सम्प्रति असंभव ही है।

कभी हिन्दू–व्यवस्था के लागू करने की आवश्यकता अनुभव हुई तो विना किसी हिचक के उसके वे प्रक्षिप्त अंश छोड़ने ही पड़ेंगे, जिनमें सड़ी–गली रूढ़ियों का समर्थन है। किन अंशों को ग्रहण किया जाये, और किन्हें छोड़ा जाये इसके निर्णय के लिए देश, काल के अतिरिक्त मानवीय विवेक या तर्क की कसौटी ही मान्य होगी – क्योंकि ऋषियों ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में तर्क की ही प्रतिष्ठा की थी : (तर्क एव स ऋषिः) अतः मनुस्मृति के प्रक्षिप्त अंशों के आधार पर समग्र हिन्दुत्व पर आक्षेप करने का कोई औचित्य नहीं है।

परिस्थितियों का प्रभाव

वास्तव में, पूरे समाज को जातियों-उपजातियों की चक्करदार भूलभुलैया में ले जाने के लिए धर्मशास्त्र उतना जिम्मेदार नहीं है, जितनी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थतियाँ और स्थितियाँ। इनके विश्लेषण से ही हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। लेकिन यह दुर्भाग्य ही है कि विगत १२–१३ सौ वर्षों में हिन्दू–समाज इस विश्लेषण के लिए अवकाश नहीं निकाल सका। इसी कारण स्थितियाँ निरन्तर उलझती चली गई और बावजूद अपने उच्चकोटि के तत्त्वज्ञान और सांस्कृतिक रिक्थ के, हिन्दू समाज बिखरता ही चला गया। जैसे बहुत वर्षों तक मुकदमेबाजी, लम्बी बीमारी या अड़ोस–पड़ोस की शत्रुता में उलझा रहने वाला परिवार घर के भीतर की गिरी हुई दीवार की मरम्मत टालता रहता है, ठीक उसी तरह अनवरत बाहरी आक्रमणों को झेलने वाला हिन्दू–समाज भी जैसे–तैसे अपनी सुरक्षा करने में ही उलझा रहा और चाहकर भी अनजाने ही पनप गई आन्तरिक व्याधियों से नहीं उबर पाया। यही स्थिति आज भी है, लेकिन अब अधिक समय तक इन व्याधियों या विसंगतियों को पाले रखना आत्मघात की दिशा में बढ़ना होगा।

वस्तुतः, वर्तमान मनुस्मृति मूल मनुस्मृति नहीं है। यह परम्परा से सिद्ध है। महाभारत, व्यासपुत्र, और अहिर्बुध्न्य – संहिता के अनुसार प्रजापति ने एक त्रिवर्गशास्त्र का प्रवर्तन किया था, जिसका धर्मशास्त्र – खण्ड स्वायंभुव मनु ने सन्दृब्ध किया, जो संक्षिप्त होते – होते वर्तमान मनुस्मृति के रूप में प्रचलित है। नारदस्मृति के अनुसार मनु ने उसे एक लाख श्लोकों में उपनिबद्ध करके देवर्षि नारद को प्रदान किया। नारद ने उसे बारह सहस्र श्लोकों में संक्षिप्त करके महर्षि मार्कण्डेय को प्रदान किया। मार्कण्डेय ने उसे आठ सहस्र श्लोकों में संक्षिप्त करके सुमति भार्गव को प्रदान किया। सुमति भार्गव ने उसे चार सहस्र श्लोकों में संक्षिप्त कर दिया।

"इह हि भगवान्मनुः प्रथमं सर्वभूतानुग्रहार्थ – माचारस्थिति-हेतुभूतं शास्त्रं चकार।"...... तदेतदत्र श्लोकशतसहस्रेण साशीतिनाअध्याय – सहस्रेण च भगवान्मनुरुपनिबध्य देवर्षये नारदाय प्रायच्छत्। स च तस्मादधीत्य महत्त्वान् नायं ग्रन्थः सुकरो मनुष्यैरेव धारयितु मिति द्वादशभिः सहस्रैः संचिक्षेप। तं च सुमतये भार्गवाय प्रायच्छत्। सुमतिरपि भार्गवस् तस्मादधीत्य तथैवायुर्ह्रासादल्पीयसी शक्तिर् मनुष्याणामिति चतुर्भिः सहस्रैः संचिक्षेप।"

नारद – स्मृति(१–४)और प्रचलित संस्करण में तो १७० प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर मात्र २६८४ श्लोक उपलब्ध हैं। हमारी धारणा है कि उपरिनिर्दिष्ट संक्षेपण – क्रम में मनु की कृति देश – काल – पात्रापात्रानुसार परिवर्तित और विकृत होती गयी है।

धर्म और मनु

इस संदर्भ में हमारा ध्यान सबसे पहले मनुस्मृति के एक प्रतिज्ञा – वाक्य (१.११८) की ओर जाता है, जो इस प्रकार है– **देशधर्मान्, जातिधर्मान्, कुलधर्मांश् च शाश्वतान्, पाषण्ड – गण – धर्मांश् च शास्त्रेऽस्मिन् नुक्तवान् मनुः।।** इसका अर्थ है, "मनु ने इस शास्त्र में देश – धर्म, जाति – धर्म, पाषण्ड – धर्म और गण – धर्मों का प्रतिपादन किया था।" किन्तु मनुस्मृति में ये सारे विषय कहाँ आ पाये हैं ? इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि मनु का शास्त्र वर्तमान मनुस्मृति की अपेक्षा कहीं बड़ा था। इस सम्बन्ध में एक बात और मानस-पटल पर उभरती है। वर्तमान मनुस्मृति में पाषण्डों की निन्दा ही प्राप्त होती है, जैसे (४.२०) -

पाषण्डिनोविकर्मस्थान्, बैडाल- व्रतिकान्, छठान्, हैतुकान्, बकवृत्तींश् च वाङ्. मात्रेणापि नार्चयेत्।।

अर्थात् वैदिकेतर धर्मों – संस्कृतियों के अनुयायियों का वाणी मात्र से भी सत्कार नहीं करना चाहिए। लगता है कि मूल मनुशास्त्र पाषण्डों के प्रति अधिक उदार था।

हमारी धारणा है कि उपरिनिर्दिष्ट संक्षेपण – क्रम में मनु की कृति देश – काल – पात्रापात्रानुसार परिवर्तित और विकृत होती गयी।। हम कहना चाहते हैं कि मनु का शास्त्र वेद से भी प्राचीनतर सिद्ध होता है, क्योंकि अनेक वेदमंत्रों में मनु

को मनुष्यों का पिता (मनुष्पिता) कहा गया है (ऋग्वेद १.८०.१६ ; ८.६३.१), और प्रार्थना की गयी है कि विश्वदेवा देवता हमें अपने पूर्वज मनु के पथ से विचलित न होने दें (ऋग्वेद ८.३०.३)

ते नस् त्राध्वं, तेऽवत, त उ नो अधिवोचत।

मा नः पथः पित्र्यान् मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः।।

ज्ञातव्य है कि यह ऋचा वैवस्वत मनु की है, जिनके आदि पुरुष स्वायंभवु मनु थे। यहाँ संभवतः स्वायंभुव मनु का ही स्मरण किया गया है और उनके धर्म शास्त्र का पालन करते रहने की प्रार्थना की गयी है। अतः इस दृष्टि से भी सिद्ध हो जाता है कि मनु का मूल शास्त्र कुछ और था और कि वह शूद्रों आदि के सम्बन्ध में अधिक उदार था।

स्त्रियों की दशा के विषय में मनुस्मृति में परस्पर-विरोधी विचार मिल जाते हैं। स्त्री जाति के प्रतिकूल पड़ने वाले विधान यदि अमान्य कर दिये जायें तो किसी का कुछ नहीं बिगड़ता।

विजित की रक्षा

विश्व की अनेक संस्कृतियों का यह स्वभाव रहा है कि वे विजित संस्कृतियों अथवा उनकी अस्मिता का उच्छेद करने का प्रयास करती थीं। इस्लामी संस्कृति इसका ज्वलंत उदाहरण है। इस्लाम जहाँ गया उसने वहाँ के उपासनागृह नष्ट किये ; भाषा मिटायी, पुस्तकालय जलाये — एक वाक्य में वहाँ के धर्म और संस्कृति का उन्मूलन किया। इसके विपरीत,आर्यों ने विजितों के धर्म और संस्कृति की पूरी रक्षा की । उन्हें अपने विशाल सांस्कृतिक राष्ट्र में उनकी उपसंस्कृति के साथ एक जाति के रूप में संरक्षण प्रदान किया और आगे चलकर शनैः — शनैः उन्हें [illegible] [illegible] [illegible]व्यवस्था का अंग बन जाने दिया। इस्लाम — पूर्व तुर्क, शक, सिथियन, हूण आदि इन जातियाँ संस्कारवान् बनकर क्षत्रिय वर्ण में प्रविष्ट हो गयीं; कतिपय विदेशी जातियां — शाकद्वीपीय मग आदि — ब्राह्मण वर्ण में प्रविष्ट कर ली गयीं; संस्कारानुसार ही अन्य जातियों को वैश्य या शूद्र वर्ण के अन्तर्गत रख लिया गया। याज्ञवल्क्य — स्मृति (आचाराध्याय ३४३) की घोषणा है —

यस्मिन् देशे य आचारः
पारम्पर्यक्रमागतः
तथैव परिपाल्योऽसौ
यदा वशमुपागतः।।

अर्थात् जब किसी देश पर विजय प्राप्त हो तो वहाँ जो पारम्परिक आचार — व्यवहार प्रचलित हों, उनका मान और संरक्षण होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि विजितों की संस्कृति की रक्षा कर्तव्य है। इस प्रकार की गारण्टी सभी धर्मों में अलीक है।

कालबाह्य नहीं

अब हमारा अन्तिम प्रकथन रह जाता है, यह कि हिन्दुत्व मनु से बड़ा है और कि मनु के अप्रासंगिक अथवा त्याज्य सिद्ध हो जाने से हिन्दुत्व कालबाह्य नहीं हो जाता। मनुस्मृति (१.८५) स्वयं कहती है —

अन्ये कृतयुगे धर्मास्, त्रेतायां, द्वापरेऽपरे,

अन्ये कलियुगे नृणां युग-ह्रासानुरूपतः।।

अर्थात् कृतयुग का कुछ और धर्म होता है, त्रेता का कुछ और, द्वापर का कुछ और, और कलियुग का कुछ और ही। ज्यों — ज्यों संस्कृति का ह्रास होता जाता है, त्यों — त्यों धर्म भी बदलता जाता है। बल्कि वह यहाँ तक कह जाती है कि वह धर्म भी त्याज्य

है जो लोक – भावना के विरुद्ध हो (४.१७६) –

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।

धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च।।

अर्थात् – 'धर्म – विरुद्ध अर्थ और काम का परित्याग **कर देना चाहिए** । और उस धर्म का भी परित्याग होना चाहिए **जो लोक** – भावना का विरोधी हो।' अतः मनुस्मृति के अनुसार **ही शूद्रों और** स्त्रियों सम्बन्धी लोकोद्वेजक विधान त्याज्य हैं। **महाभारत** (शान्ति – पर्व २०.४) का वचन है –

अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः।

और कहीं यह भी कि–

न कोऽप्यात्यन्तिको धर्मो, धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः।।

अर्थात् सामान्य अवस्था का धर्म कुछ और होता है तथा विषम (असामान्य) अवस्था का कुछ और ही। कोई धर्म आत्यन्तिक नहीं होता।इसीलिए धर्म को आवस्थिक, अवस्थानुसारी, कहा गया है। उसी ग्रन्थ (शान्ति – पर्व २६०.१७–१८) में यह भी कहा गया है –

न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः संप्रवर्तते।

तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः।।

शंकराचार्य (शारीरकभाष्य ३.१.२५) भी लिखते हैं, "यस्मिन् देशे, काले, निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देश – काल – निमित्तान्तरेषु अधर्मो भवति।" अर्थात् जिस देश, काल और निमित्त में जिस धर्म का अनुष्ठान किया जाता है वही भिन्न देश, काल और निमित में अधर्म बन जाता है।

कलि में वर्जित

प्रस्तुत सन्दर्भ में दो और मुद्दे उल्लेखनीय हैं -- कलिवर्ज्य और आपद्धर्म। धर्मशास्त्रकारों ने अनेक पूर्व - प्रचलित धार्मिक अनुष्ठानों – आचारों को कलिवर्ज्य घोषित **कर दिया, अर्थात् कलियुग में वे वर्जित कर दिये गये** । कलिवर्ज्यों की सूची में महत्त्वपूर्ण यज्ञ – याग और यहाँ तक कि संन्यास भी समाविष्ट है। यद्यपि आज अनेक यज्ञों का पाखण्ड और भ्रष्ट राजनीति के चलते बीभत्स रूप मे पुनरुत्थान हो रहा है। संन्यास का पुनरुत्थान तो बहुत पहले हो गया था। धर्मशास्त्रों में आपद्धर्म की भी व्यवस्था है। आपत् – काल में कभी – कभी बड़ा से बड़ा धर्म त्याज्य हो जाता है और घोर से घोर अधर्म ग्राह्य।

परिवर्तनशील धर्म

अतः कहना होगा कि हिन्दू धर्म परिवर्तनशील तो है ही, उसने परिवर्तन को संस्थाबद्ध कर रखा है, जिससे किसी परिवर्तन को परिवर्तनत्व के कारण गर्हित न मान लिया जाये। वस्तुतः, केवल हिन्दू धर्म ही ऐसा धर्म है जो परिवर्तन का स्वागत करता पाया जाता है।

दुनिया भर के अनेक विचारकों ने हिन्दू तत्त्वज्ञान एवं हिन्दू चिन्तन को श्रेष्ठ मानवता एवं सृष्टि के लिए परम कल्याणकारी माना है । किन्तु कोई भी तत्त्वज्ञान अर्थहीन है जबतक उसे साधारण लोगों के जीवन में संस्थाबद्ध करने के लिए कार्यक्रमों की रचना न की जाय । अतः यह विचारणीय है कि हमारे ऋषियों ने उदात्त हिन्दू जीवन – मूल्यों को संस्थाबद्ध करने के लिए किस वैज्ञानिक जीवन – रचना का आविष्कार किया था और यह भी कि आज की परिस्थिति में उस जीवन-रचना की क्या कोई प्रासंगिकता भी रह गयी है ?

वर्णाश्रम व्यवस्था के धुरसमर्थक एक विद्वान से हुई वार्ता का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा । उनके अनुसार '**वर्णाश्रम व्यवस्था तब अपनी पराकाष्ठा पर थी, जब आर्य ऋषियों ने यह व्यवस्था दी थी कि एक शूद्र चाण्डाल एक ब्राह्मण का गुरु हो सकता है, किन्तु उसका दामाद नहीं** । प्रतिलोम विवाह हमारी अनेक सामाजिक बुराइयों का कारण है जिससे उत्पन्न सन्तान समाज में हर प्रकार के स्खलन का कारण है । अन्तर्जातीय विवाह तो आर्य ऋषियों को मान्य था पर वर हमेशा उच्च वर्ण का होना चाहिए । मुगल बादशाह अकबर ने जबसे एक क्षत्राणी जोधाबाई से शादी कर प्रतिलोम सन्तान को उत्पन्न किया, तब से ही मुगल राजाओं के चरित्र में गिरावट आरम्भ हुई और यह सल्तनत औरंगजेब के आने तक नष्ट–प्राय हो गयी।

उपर्युक्त कथन विवादास्पद हो सकता है – किन्तु विवाह संस्था और वर्ण – व्यवस्था सामाजिक रचना के महत्त्वपूर्ण अंग थे, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है । आज वर्ण – व्यवस्था कालबाह्य हो गयी है; किन्तु भूतकाल में हिन्दू जीवन – मूल्यों को हजारों साल तक संरक्षित कर उसे विकासमान करने की दिशा में इस व्यवस्था द्वारा किये गये [illegible] नहीं किया जा सकता है । आज जरूरत है इस व्यवस्था के वैज्ञानिक पक्ष के अध्ययन की और देश, काल, पात्र, परिस्थिति के अनुसार उसे नये रूप में प्रस्तुत करने की, जिससे चिरन्तन हिन्दू जीवन – मूल्यों के संरक्षण व सवर्द्धन की अखण्ड परम्परा जारी रह सके ।

व्यक्ति – निर्माण एवं विवाह संस्था

मानव सम्बन्धी अवधारणा पर ही मानव – विकास की योजना अवलम्बित है । आज जड़ पदार्थों के विषय में जितना वैज्ञानिक शोध एवं अन्वेषण किया जा रहा है; उतनी सघनता से मनुष्य के बारे में शोध नहीं हो पा रहा है। कारण स्पष्ट है कि मनुष्य के बारे में शोधकर्ता को एक साथ कई विषयों की तज्ञता प्राप्त करना अनिवार्य है । जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, समाज विज्ञान, अभियांत्रिकी, वैद्युतिकी, अध्यात्म शास्त्र जैसे अनेक शास्त्रों का एक साथ तज्ञ होना सामान्यतः असम्भव है, इसलिए मनुष्य आज भी पूरी तरह ज्ञात नहीं है । यही कारण है कि मनुष्य के विकास की सभी योजनाएँ अधूरी हैं और बहुत बार प्रतिगामी भी । जिस प्रकार रोगी को बिना अच्छी तरह निदान (Diagnosis) किये डाक्टरों द्वारा दवा दी जाती है उसी प्रकार मनुष्य को पूरी तरह समझे बिना उसके विकास की अन्तर्राष्ट्रीय योजनाएँ बन रही हैं। हिन्दू ऋषियों ने जहाँ मनुष्य को पूर्णता में समझने का यत्न किया था, वहीं "नेति – नेति" कहकर इस दिशा में अनन्तकाल तक विकास की यात्रा को स्वीकृति भी प्रदान की थी ।

हमारे ऋषियों ने तत्कालीन उपलब्ध ज्ञान के आधार पर विवाह संस्था का आविष्कार किया था जिससे श्रेष्ठ मनुष्य का प्रादुर्भाव हो सके । यह संस्था एक अन्ध परम्परा न होकर एक सामाजिक वैज्ञानिक व्यवस्था है । वनस्पतियों एवं पशुओं की नस्ल (प्रोजीनी) सुधारने के लिए विश्व स्तर पर अनुसंधान

किया जा रहा है । उत्तम मनुष्य – निर्माण के लिए प्राथमिक रूप से विवाह जैसी संस्था को और वैज्ञानिक रूप प्रदान किये जाने की आवश्यकता है । वनस्पतियों, पशुओं आदि के नस्ल सुधार कार्यक्रम में पुरुष – तत्त्व की श्रेष्ठता को वैज्ञानिक स्वीकृति मिल गयी है – अतः विवाह को सामाजिक परिवर्तन व श्रेष्ठ सन्तान के प्रजनन के लिए एक प्रभावी उपकरण बनाने हेतु वर की श्रेष्ठता का सिद्धान्त भी स्वीकार किया जाना चाहिए।

आज श्रेष्ठता का जन्मगत पैमाना पहले की तरह ही बना रहे, यह स्वीकार्य नहीं होगा । गुण (By heredity) एवं कर्म (By acQuisition को सम्मिलित कर ही श्रेष्ठता अथवा योग्यता का मापदण्ड निर्धारित किया जा सकता है । जापान, अमेरिका आदि देशों में रक्त – परीक्षण के आधार पर मानव गुणों के वर्गीकरण का प्रयोग चल रहा है । आर्य ऋषियों ने विवाह संस्था को वैज्ञानिक बनाकर अनेक महापुरुषों को इस पृथ्वी पर अवतरित कराने में सफलता पायी थी । पौराणिक काल में पराशर मुनि व मत्स्यगंधा के संयोग से महाज्ञानी महर्षि व्यास, भीम एवं हिडिम्बा के संयोग से महावीर घटोत्कच आदि का उदाहरण उल्लेखनीय है । इन सब संयोगों में पुरुष की श्रेष्ठता के सिद्धान्त को हमेशा वरीयता प्रदान की गयी है।

आज आर्य ऋषियों द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक विवाह पद्धति को परिमार्जित करने की महती आवश्यकता है – जिससे उत्पन्न सन्तान परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिए धरोहर बन सके और अपने माता – पिता से विरासत में प्राप्त जीवाश्म विशेषता (ZYGOTIC TRAIT) का विस्तार कर सके। **कहते है, हजारों पीढ़ियों तक यह जीवाश्म विशेषता नष्ट नहीं होती है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वज का ही प्रतिरूप होता है । ऐसी हर व्यवस्था जो हमें अपने पूर्वजों से काटती है, वह अवैज्ञानिक ही नहीं, प्रतिगामी भी है । इसलिए हम कहते हैं कि पंथ व सम्प्रदाय बदल लेने से हम पूर्वज नहीं बदल सकते । यह कोई राजनैतिक नारा न होकर वैज्ञानिक सोच है।**

एक ही परिवार के विभिन्न व्यक्ति विविध व्यवसायों से सम्बद्ध होकर अनेक वर्णों का प्रतिनिधित्व करते हुए एक साथ सुख और शान्तिपूर्वक रहते हुए दिखलाई देते हैं। इसका द्योतक वह मन्त्र है, जिसमें एक ऋषि का कथन है कि "मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, और मेरी माता घरों में कूटने – पीसने का कार्य करती है – हम सभी के मध्य पूर्ण सद्भाव है" –

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवो अनुगा इव तस्थिमिन्द्रायेन्द्रो परिस्रव।।

(ऋग्वेद संहिता, ९.११२.३)

कृष्ण यजुर्वेद के 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (३.४) में, १९८ प्रकार के व्यवसायों से जुड़े पुरुषों को एक विशेष यज्ञ में भागीदारी का विधान है। इसका अर्थ है कि तब तक धर्मानुष्ठानों में सभी व्यवसायों के प्रतिनिधिजन उन्मुक्त रूप से भाग लेते थे।

यह वर्ण – व्यवस्था कब जन्म से जुड़कर समाज को

[illegible] जाति [illegible] आरोपित है

भारतीय [illegible] दर्शन में जाति वस्तुतः शब्दार्थ-बोध की एक प्रक्रिया है, जिसका विवेचन व्याकरण, मीमांसा एवं न्याय- वैशेषिक दर्शनों में विशेष रूप से हुआ है। 'समानप्रसवा जातिः' के अनुसार एक ही प्रकार की प्रजनन या उत्पादन – प्रक्रिया से उत्पन्न वस्तुएँ एक जाति के अन्तर्गत आ जाती हैं। उदाहरण के लिए 'गो' शब्द का अर्थ गो व्यक्ति है या गोजाति ? इस सन्दर्भ में, कहा जा सकता है कि 'गो' शब्द का व्यक्तिपरक अर्थ लेने पर सभी स्थानों और कालों में विद्यमान गायों की प्रतीति यह शब्द नहीं करा सकता। इसीलिए, भारतीय भाषाशास्त्रियों ने 'गोत्व' रूप जाति में शब्द का संकेतग्रह अथवा अर्थ ग्रहण माना है। व्यक्ति के रूप में गाय रहे या न रहे, लेकिन गोत्व तो सदैव रहेगा ही। यही जाति की नित्यता है, जो सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में जब आई तो 'वर्ण' की वरणशीलता या व्यावसायिक परिवर्तनशीलता के स्वैच्छिक अथवा वैकल्पिक आधार को धीरे – धीरे निगलती चली गई।

अभिप्राय यह है कि 'जाति' प्रारम्भ में भाषा – विचार के क्षेत्र में शब्दबोध की एक प्रक्रिया थी, जो शनैः – शनैः सामाजिक व्यवस्था में समाविष्ट हो गई। इस प्रकार वर्ण – व्यवस्था के स्थान पर जातिगत संरचना वास्तव में एक प्रत्यारोपित (ट्रान्स्प्लान्टेड) चीज है – बाहय द्रव्य है। चिकित्सा – विज्ञान के अनुसार, शरीर बाह्य द्रव्य को सरलता से स्वीकार नहीं करता है जरा सा भी अवसर मिलने पर उसे निकाल फेंकता है, जब तक वह बाह्य वस्तु (Foreign matter) शरीर में रहती है, समस्या उत्पन्न करती रहती है – फोड़ों और फुंसियों की जननी होती है।

[illegible] और [illegible]

[illegible] 'वर्ण' और 'जाति' दोनों के ही [illegible] में निहित थी, किन्तु वर्ण -- व्यवस्था की पृष्ठभूमि में मानव–शरीर के विभिन्न अंगों के मध्य विद्यमान परस्पर सापेक्ष एकात्मता के रूप में जो गहरी मानवीयता निहित थी, वह 'जाति' में नहीं रही। वर्ण - व्यवस्था की योजना सुनियोजित ढंग से मानव–शरीर के समानान्तर समाज शरीर की आन्तरिक ग्राह्यता के अनुरूप हुई थी, किन्तु जातिप्रथा, अनियोजित ढंग से, आर्ष ग्रन्थ में क्षेपक की तरह, समाज में घुसपैठ कर गई, जिसके कारण सामाजिक समरसता में समय–समय पर अनेक बाधाएँ निरन्तर आती ही रहीं।

प्राचीन वर्ण–व्यवस्था की पृष्ठभूमि में व्यक्ति और समाज के मध्य परस्पर अवयव–अवयवीभाव विद्यमान था – उपर्युक्त पुरुष - सूक्तगत विराट् पुरुष वास्तव में समाज ही है जिसे 'सहस्रशीर्षा' रूप में अंकित किया गया है। व्यक्ति इसी का अवयव है, जिसे ऋग्वेदीय ऋषि ने 'दशांगुल' परिमाणवाला बतलाया है। यह चिन्तन इतना वैज्ञानिक है कि देश ही नहीं, विदेश के विचारकों ने भी इसका अनुकरण किया। पश्चिमी समाजवैज्ञानिक हर्बर्ट स्पेंसर ने अपनी 'आरगेनिक थ्योरी' को एक माना गया है। सभी एकमेव आत्मा हैं, किन्तु भिन्न माना गया है। यह भिन्नता रंग, रूप, गुण से लेकर बुद्धि, ज्ञान तथा प्रवृत्ति तक व्याप्त है। यह भिन्नतायें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। यह एक तथ्य है कि हर व्यक्ति एक अद्वितीय वैयक्तिक अभिज्ञान (Unique Individual Identity) है, जिसे विज्ञान स्वीकार कर चुका है। इसी तत्वतः व वस्तुतः की सूक्ष्म भारतीय दृष्टि के अभाव में, आधुनिक समाज की दृष्टि में वर्ण व्यवस्था समानता–विरोधी मानी जाने लगी।

विज्ञान यह स्वीकार कर चुका है कि 'जीन्स' के आधार पर संसार का प्रत्येक व्यक्ति भिन्न है और रासायनिक तत्वों के संगठन की दृष्टि से सब समान हैं। अर्थात् यदि विश्व की आबादी साढ़े पाँच अरब है तो समानता से सीधे साढ़े पाँच अरब भिन्नताओं में पहुँच गये। परन्तु वैज्ञानिक सिद्धान्तों से अनुसार एक समान होने से इस ५ अरब असमानता की यात्रा में कुछ बीच की अवस्थायें भी होगी। ये वर्ग कैसे बने होंगे व इनका विकास – क्रम कैसा रहा होगा, इसका विश्लेषण दो दृष्टियों से किया जा सकता है। १ – दार्शनिक और २ – वैज्ञानिक।

दार्शनिक आधार

यह संसार दार्शनिक दृष्टि से एक विशिष्ट कार्य या प्रभाव है। और कार्य–करण (cause & effect) के सिद्धान्तानुसार इसका कारण (cause) अवश्य होना चाहिये। अतः इस संसार का जो भी कारण रहा हो (हम उसे ईश्वर माने या नही) परन्तु वह 'सम्पूर्ण कारण' रहा होगा। अर्थात् वह विश्व निमित्त कारण (causative cause) ही नहीं, अपितु उपादान कारण (Operative cause) भी रहा होगा। अतः उस कारण ने न सिर्फ विश्व को उत्पन्न किया होगा अपितु उसके अस्तित्व व विकास की समस्त व्यवस्थाएँ भी उसी में निहित की होंगी।

यह तो एक निर्विवाद सत्य है कि विश्व की रचना का कारण चेतना युक्त ज्ञान ही रहा होगा क्योंकि सृष्टि के विकास–क्रम में यही दो प्रभाव सबसे अन्त में उत्पन्न हुए। और चक्रीय क्रम के सिद्धान्तानुसार, अन्तिम बिन्दु ही प्रारम्भिक होता है। अतः इस चक्रीय सृष्टि का आदि कारण (ईश्वर) परम ज्ञान की अवस्था ही रहा होगा। अतः सृष्टि के उद्भव के प्रथम चरण में (जिसमें वह अपने आदि कारण से भिन्न होकर कार्य रूप धारण कर रही होगी) ज्ञान की तरंगें ही उत्पन्न हुई होंगी। इसी ज्ञान व चेतना का एक विशिष्ट स्थान प्रकृति के रूप में बना होगा।

प्रकृति का अस्तित्व आ जाने के बाद, उसमें स्थिरता देने की आवश्यकता बनी होगी। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि किसी भी विकास में स्थिरता बलों की परस्पर प्रतिक्रियाओं में निहित होती हैं, अतः अब सांसारिक या भौतिक बल या शक्ति की उत्पत्ति हुई और इसने अपना एक विशिष्ट स्थान सृष्टि में बनाया।

अब स्थिरता आने के बाद सृष्टि के विकास का प्रश्न उठा होगा और यह एक स्थापित सत्य है कि विकास आदान–प्रदान से ही होता है, चाहे यह आदान–प्रदान विद्या का हो, ज्ञान का हो अथवा आर्थिक संसाधनों का या विचारों का हो। अतः अब सृष्टि के विभिन्न अवयवों के मध्य निश्चित प्रभावों का आदान–प्रदान हुआ होगा और इस आदान-प्रदान ने अपना एक विशिष्ट स्थान सृष्टि में बनाया होगा।

जब भी कोई प्रभाव अस्तित्व, स्थिरता व विकास के तीनों चरणों को पार कर लेता है तो एक चौथा चरण आता है, और वह होता है इन तीनों के अनुसार क्रियाएँ करके प्रभाव के उपर्युक्त उपयोग का चरण।

मनुष्य, जो इस प्रकृति की एक अद्भुत एवं उत्कृष्टतम रचना है और अपने आदि कारण (ईश्वर) के सर्वाधिक निकट है, सृष्टि के अन्य अवयवों की तुलना में, सृष्टि के कारण को समझने में अधिक समर्थ है, अतः मनुष्य में ही उपर्युक्त चारों उपादानों का, जो सृष्टि के आधारभूत अवयव हैं, स्पष्ट प्रकटीकरण है। मानव समाज भी उपर्युक्त चारों चरणों को स्पष्ट रूप से परिलक्षित करता है।

चार प्रकार के मनुष्य

हम यदि गहन दृष्टि से देखें, तो प्रत्येक समाज में एक वर्ग होता है जो ज्ञानी, विवेकी व बुद्धिमान है। यह वर्ग सृष्टि के विकास के प्रथम चरण का प्रतिनिधि है। समाज को दिशा–निर्देश व गति यही वर्ग प्रदान करता है। दूसरे स्थान पर वह वर्ग होता है जो शक्ति से युक्त है तथा अत्यधिक संघर्षशील प्रकृति का है। इस वर्ग के ही कारण समाज सुरक्षित रहता है और अपने अस्तित्व की रक्षा कर पाता है। यह वर्ग सृष्टि–विकास के द्वितीय चरण का प्रतिनिधि है। तृतीय स्थान पर वह वर्ग है जो आदान–प्रदान करने के लिये आवश्यक गतिशीलता के गुण से युक्त है। इसी वर्ग के कारण समाज विकास के पथ पर चलता है। चतुर्थ वर्ग वह है जो इन तीनों वर्गों द्वारा प्राप्त सुविधाओं का सामान्य स्तर पर उपयोग करता है और सामान्य रूप से अपना जीवन–यापन करता है।

इसप्रकार समाज के चारों वर्ग आदि सृष्टि से उत्पन्न हैं और ये सृष्टि के विकास के चरण हैं, अतः इनमें कोई संघर्ष नहीं हैं। यही बात ऋग्वेद के दशम मण्डल में वर्णित पुरुष सूक्त में कही गयी है, जहाँ हम वर्ण-व्यवस्था का प्रथम उल्लेख पाते हैं। पुरुष सूक्त में चारों वर्णों को काल पुरुष के चार अंगों के रूप में वर्णित किया गया है। इसमें दो बातें महत्वपूर्ण हैं। एक तो यह कि ये सृष्टि के (काल पुरुष के) मूल अवयव (अंग) है, जैसा कि ऊपर भी स्पष्ट किया जा चुका है। दूसरी बात यह कि कोई संघर्ष नहीं है क्योंकि इनमें अंगांगी भाव है। एक अंग का दूसरे अंग से कभी संघर्ष नहीं हो सकता, अपितु सदैव सहयोग ही होता है। अब काल पुरुष व उसके अंगों के आधार पर वर्ण–विभक्त समाज की परिकल्पना सृष्टि के आधार-भूत गहन सिद्धान्तों पर आधारित है। आवश्यकता है तो मात्र उसे समझने की, न कि इसे तिरस्कृत कर छोड़ देने की।

आधुनिक युग में प्रासंगिकता

कई बार प्रश्न उठता है कि यदि इसे सही मान भी लें तो क्या यह आधुनिक युग में प्रासंगिक है भी? अथवा नहीं? इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। एक तो सिद्धान्ततः और दूसरा उदाहरणतः। सिद्धान्ततः, इसका संक्षेप में उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। और यदि कोई वस्तु सिद्धान्ततः सही है तो वह प्रासंगिकता अथवा लोकप्रियता की आश्रित नहीं होती। अंततोगत्वा वह समाज को स्वीकार ही करनी पड़ती है।

अब इसे उदाहरणतः लेते हैं। आधुनिक युग में जिस सृष्टि के विकास क्रम के अवयव हैं तथा हमारी संस्कृति में सन्निहित हैं। चूँकि यह एक प्राकृतिक सत्य है, अतः आवश्यकता इसे विस्तार से समझने की है। इसकी सत्यता की कम-से-कम एक झलक संक्षेप में वर्णित उपर्युक्त उदाहरण व उससे पहले वर्णित सिद्धान्त से मिलती है।

वैज्ञानिक आधार

यह कहा जा सकता है कि सिद्धान्तों और उदाहरणों पर

आधारित बात को पूर्ण सत्य के रूप में तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि यह विशुद्ध यथार्थ रूप में अर्थात् आधुनिक विकास के रूप में न सिद्ध हो जाये। द्वितीयतः, यदि इसे सही मान भी लें तो यह तो मात्र प्रवृत्तिगत वर्ग – विभेद है। फिर यह कहाँ सिद्ध होता है कि यह प्रवृत्तिगत विभेद जन्मना होता है, जैसा कि अपनी संस्कृति में है? इन दोनों ही प्रश्नों का उत्तर विशुद्ध एवं आधुनिकतम वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर दिया जा सकता है।

आनुवंशिकी विज्ञान (Genetics) जो विज्ञान की आधुनिकतम शाखाओं में से एक है। यद्यपि ये तथ्य अभी परिकल्पना से प्रयोग के मध्य की अवस्था में ही हैं। पर इसके द्वारा अनेक रोचक तथ्य प्रकाश में लाये गये हैं। हम यह जानते हैं कि विज्ञान के अनुसार हमारे समस्त गुण हमारी कोशिकाओं में स्थित 'जीन्स' में सन्निहित होते हैं। विज्ञान के अनुसार,हर मनुष्य की कोशिका में लगभग १० लाख एमीनो अम्ल के अणु होते हैं, जो प्रत्येक मनुष्य में एक भिन्न किन्तु निश्चित क्रम में होते हैं। इसी क्रम से 'जेनेटिक कोड' निर्धारित होता है। यह जेनेटिक कोड हमारे बड़े–बड़े गुणों जैसे रंग, रूप, बुद्धि, प्रवृत्ति से लेकर अत्यन्त छोटे–छोटे गुणों को जैसे हमारा क्रोध, हमें अच्छा लगने वाला रंग यहाँ तक कि अमुक परिस्थिति में हमारे व्यवहार को भी निर्धारित करता है। जेनेटिक कोड ही यह भी निर्धारित करता है व्यक्ति अच्छा गायक, साहित्यकार, वैज्ञानिक, खिलाड़ी या शिल्पकार में से क्या बन सकता है। यह जेनेटिक कोड हमें अपने माता-पिता की 'जीन' के अनुसार ही प्राप्त होता है।

वैज्ञानिक खोजों के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अच्छा वैज्ञानिक है और उसने जीवन भर विज्ञान का अध्ययन किया तो उसके एमीनो एसिड के अणुओं का क्रम कुछ-कुछ वैज्ञानिक वाले क्रम में आने लगता है। यही क्रम उसकी संतान के एमीनो एसिड को क्रम प्रदान करता है। अतः यह सिद्ध किया जा चुका है कि यह तो आवश्यक नही कि उसकी संतान वैज्ञानिक ही हो, परन्तु यदि उपयुक्त व समान परिस्थितियाँ उपलब्ध करायी जायें तो वह किसी अन्य व्यक्ति से अच्छा वैज्ञानिक निकल सकता है, क्योंकि इसके जेनेटिक कोड में वह क्रम पहले ही से विद्यमान है। यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और हमारी प्राचीन परम्पराओं के संबंध में गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है।

अब हम तनिक और अधिक सूक्ष्म दृष्टि डालें तो हमने सुना होगा कि विगत दो दशकों से जेनेटिक कोड में मनमाने परिवर्तन कर मनचाही संतति प्राप्त करने की दिशा में भी वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं। परन्तु उन्हें एमीनो एसिड के उन अणुओं को मनचाहा क्रम देने में असफलता ही हाथ लगी है। इस विषय में एक आधुनिकतम कारण प्रकाश में आया है।

अमेरिका के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के बायोकेमिस्ट्री के विभागाध्यक्ष प्रो. रुपर्ट शेल्टेक की पुस्तक "एन्यू साइंस आफ लाइफ द हाइपोथिसिस आफ फार्मेटिव काशेशन" (A new Science of Life the

75

Hypothesis of Formative Causation) के अनुसार, मनुष्य के जेनेटिक कोड के एमीनो एसिड के अणुओ को मनचाहा क्रम कभी नहीं दिया जा सकता क्योंकि इस क्रम के लिये जो बल उत्तरदायी है वह चार मूलभूत बलों, भौतिक बल, रासायनिक बल, गुरुत्वाकर्षण व विद्युत चुम्बकीय बलों में से कोई नहीं है अपितु एक विशिष्ट प्रकार का बल है जो मानव-मस्तिष्क में उत्पन्न विचारों से उत्पन्न होता है। इसे उन्होंने मार्फोजेनेटिक बल का नाम दिया। उनके अनुसार यह बल सिर्फ मानव-मस्तिष्क में ही उत्पन्न होता है एवं विचारों के माध्यम से दूसरे मानव-मस्तिष्क में ही उत्पन्न किया जा सकता है। इसे उत्पन्न करने की कोई दूसरी विधि ज्ञात नहीं है और संभवतः ज्ञान भी न हो सके। एक अन्य जीव वैज्ञानिक लॉयल वाटसन के अनुसार जब माता पिता से संतान में 'जीन्स' के मध्य में गुणों का स्थानान्तरण हो रहा होता है तो एमीनो एसिड के अणुओं को क्रम देने में मानव-मस्तिष्क तरंगों का एक बल कार्य करता है। यह बल हर मनुष्य में भिन्न होता है। वह एक सक्षम परिणाम में 'जीन्स' के साथ संयुक्त होता है, जिसे लायल वाट्सन ने 'जीन्स' नाम दिया है। ये जीन्स शताब्दियों तक जीवित रहकर एक सेदूसरी पीढ़ी में जाते रहते हैं।

इन वैज्ञानिक प्रमाणों में उल्लेखनीय तथ्य है कि हमारे गुणों को निर्धारित करने वाले 'जेनेटिक कोड' का निर्धारण माता-पिता के मस्तिष्क की (या विचारों की) तरंगें करती हैं। यह तथ्य हमारी प्राचीन अवधारणा, जिसके अनुसार संतान को संस्कार माता पिता के संस्कारों के अनुरूप ही प्राप्त होते है तथा जन्म से पूर्व ही निर्धारित होते हैं, की ओर इंगित कर रहा है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों व तथ्यों से कुछ क्रान्तिकारी निष्कर्ष सामने आते हैं। आवश्यकता इन्हें समझने की है, न कि इनसे मुँह चुराने की। क्योंकि हम कितना भी मुँह चुरायें, सत्य एक दिन सम्मुख आ ही जाता है। इससे पूर्व भी विज्ञान ने अनेक बार स्थापित मान्यताओं को ध्वस्त किया, जैसे १०० वर्ष पूर्व तक माना जाता था कि सभी मानवों का रक्त समान होता है। तत्कालीन ज्ञान की परिधि में वही सत्य था। अब सिद्ध हो गया है कि रक्त में चार वर्ग हैं और वे चार वर्ग इतने भिन्न हैं कि उन्हें मिलाने पर मनुष्य की मृत्यु तक हो सकती है। ४०० वर्ष पूर्व सारी दुनिया यह मानती थी कि सूर्य पृथ्वी के परितः घूमता है, तो बहुमत असत्य के पक्ष में था। पर इससे असत्य सत्य नहीं हो जाता। सूर्य स्थिर ही रहा और अंततः झुकना बहुमत को पड़ता है, सत्य को नहीं।

हो सकता है कि आनुवांशिक संस्कारों पर आधारित जन्म व पूर्वजन्म की हमारी प्राचीन अवधारणाही भावी विश्व का मार्गदर्शन करें, क्योंकि जी.एस. हिरियण्णा के अनुसार, प्रसिद्ध भविष्य द्रष्टा आस्ट्राडोमस ने भी कहा कि "२१वीं सदी में कर्मानुसार पुनर्जन्म सिद्धान्त व्यापक रूप से स्वीकार किया जायेगा, जो सभी सामाजिक वर्ग-भेद के संघर्षों का अंत करेगा।"

क्षत्रिय जातियाँ ही हैं वे

आज जिन पिछड़ी जातियों के नाम पर राजनैतिक दुकानें सजाई जा रही हैं, वे भी वास्तव में, सभी द्विजवर्ण - गत जातियाँ ही हैं। अहीर, जाट, गूजर, राजपूत, शाक्य, मौर्य, कुर्मी–सभी क्षत्रिय हैं। **महाभारत के विशाल युद्ध के अनन्तर, युद्ध के प्रति समाज में उपजी घृणाभावना के कारण इन सभी जातियों के पूर्वजों ने कृषि, पशु–पालन, कुटीरोद्योगों और शिल्पों को आजीविका के रूप में स्वीकार कर लिया था।** ब्राह्मणों में भी भूमिहार, बेलवार और त्यागी प्रभृति समुदाय इसी प्रकार के हैं। जातीय स्मृतियों में, इन्हें अपने को क्षत्रिय कहते हुए देखा - सुना भी जा सकता है। इनमें से अनेक जातियों ने समय–समय पर शासन भी किया है। हिन्दू–समाज में इन्हें सदैव सम्मान से देखा गया है। गाँवों की परम्परागत कृषि, पशुपालन और कुटीर–उद्योगों की व्यवस्था की ये धुरी हैं।

मनुस्मृति पर आश्रित वर्णव्यवस्था या जाति – व्यवस्था के विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि उसमें अनेक अनार्य अथवा आदिवासी कही जाने वाली जातियों को मूलतः क्षत्रिय माना गया है। उसका वचन है (१०.४३.४४)–

शनकैस् तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च –
पौण्ड्रकांश्, चौड्र – द्रविडाः, काम्बोजा, यवनाः, शकाः,
पारदाः पह्लवाश्, चीनाः, किराता, दरदाः, खशाः।।

अर्थात् पौण्ड्र, औड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश आदि जातियाँ मूलतः क्षत्रिय जातियां थीं, किन्तु वे शनैः – शनैः वृषल अथवा शूद्र बन गयीं, क्योंकि ब्राह्मणों के अदर्शन फलस्वरूप वे संस्कारच्युत हो गयीं। इस प्रकार मनुस्मृति आदि ने आर्य – अनार्य, सवर्ण और शूद्र की खाई किसी सीमा तक पाटने का भी कार्य किया है।

वस्तुतः, इस व्यवस्था में मनु अकेले नहीं हैं। महाभारत (अनुशासन – पर्व ३५.२१–२३ ; ३५. १७–१८ ; आश्वमेधिक – पर्व २९. १५–१६ ; हरिवंश – पुराण, हरिवंश – पर्व १४. १५–२० ; ऐतरेय ब्राह्मण ३३.६ विष्णु – पुराण ४.३.३८ ; ब्रह्म – पुराण, अ. ८, वायु पुराण अ. ८८ ; श्रीमद्भागवत स्कन्ध ९, अध्याय ८) में भी इस प्रकार की चर्चा आयी है। महाभाष्य और काशिका सहित अष्टाध्यायी (४.१.१६८ – १७८) के अनुसार भी इस प्रकार की जातियाँ क्षत्रिय थीं। पुनः संस्कार द्वारा इन के क्षत्रियत्व की वापसी सम्भव है। सभी उपजातियों का मूल वर्णसंकर या अन्तर्जातीय विवाहों या प्रच्छन्न काम–सम्बन्धों में निहित है। इतने बड़े–बड़े जन–समूहों की उत्पत्ति को दो व्यक्तियों के अवैध सम्बन्धों का प्रतिफल ही है।

जातियों, उपजातियों के नाम और आस्पद कहीं व्यवसायों के सूचक हैं तो कहीं स्थानों अथवा प्रदेशों के। उपजातियों के गठन में व्यावसायिक मानसिकता की बड़ी भूमिका को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए 'कायस्थ' आज भले ही एक जाति बन गई हो, लेकिन प्राचीन साहित्य में, कार्यालयों में यह लेखन–कार्य सँभालने वाले विभिन्न-वर्णीय व्यक्तियों का सामूहिक नाम भर है। 'कायस्थ' शब्द की उत्पत्ति पालि में 'काय' (कार्यालय) तथा संस्कृत में 'कार्य' से मानी जाती है। शासकीय दफ्तरों में, लिखने - पढ़ने

का काम करने वाले सभी व्यक्ति, वे किसी भी वर्ण के क्यों न हों, 'कायस्थ' कहे गये हैं।

वर्ण–व्यवस्था बनाम जातीय संरचना ने अतीत में चाहे जितनी गुणवती भूमिका निभाई ; लेकिन आज के सामाजिक परिवेश, आर्थिक परिस्थितियों और राजनीतिक वातावरण के निर्मलीकरण की दृष्टि से यह पूरी तरह अप्रासंगिक हो गई है, इससे कौन विचारशील व्यक्ति असहमत होगा? आज की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही शायद स्कन्द पुराण के रचयिता ने यह संभावना प्रकट की थी कि आगे चारों वर्ण मिलकर एक हो जायेंगे –

एक वर्णाः भविष्यन्ति वर्णाश्चत्वार एव हि।
कलौ प्राप्ते महाराज! नान्यथा वचनं मम।।

(स्कन्द पुराण, ब्रह्मखण्ड, ३६.३३)

इसी वर्ण, वर्ग और जातिविहीन एकता से हमारा समाज स्वस्थ और सुदृढ़ बनेगा, क्योंकि इसके विकास में सभी वर्णों ने समान रूप से सहयोग किया है और सभी के योगदान पर हमें गर्व है।



(79)

नागपूजा के पीछे कौन से उद्देश्य निश्चित हैं?

पश्चिमी देशों के एक आम नागरिक की नज़र में आज भी भारत "स्नेक" यानी सांपों का देश है। वहां से भारत आने वाला एक औसत पर्यटक अपने मन में इस छवि को लेकर भारत की धरती पर कदम रखता है कि यहां मिलने वाला हर दूसरा व्यक्ति साधु-सन्यासी ही होगा।

निश्चय ही अनादि काल से ही भारत में सांपों की एक बहुत लम्बी परंपरा रही है। उनके साथ सैंकड़ों किंवदंतियां और मिथक जुड़े हुए हैं।

भारत में सदा से विशेष रूप से एक ऐसे देश में जहां बहुत से राजवंशों का नाम सांपों के साथ जुड़ा हुआ हो। मान्यता है कि एक समय में उत्तर भारत के काफी बड़े हिस्से पर नाग वंश का राज्य था। इस वंश के प्रमुख वासुकी को राजा जनमेजय ने समाप्त करना शुरू कर दिया। जनमेजय और वासुकी के बीच हुए संघर्ष की समाप्ति के लिए वासुकी ने अपने मित्र ऋषि अस्तिक से बीच-बचाव करने का आग्रह किया। ऋषि अस्तिक के प्रयत्नों से जनमेजय और वासुकी के बीच एक समझौते के साथ संघर्ष की समाप्ति हुई। इस समझौते के अंतर्गत नागवंश के लोग भारत को छोड़कर कर दक्षिण अमरीका चले गए जो उस समय भोगवती के नाम से जाना जाता था। दक्षिण अफ्रीका के अनेक प्राचीन मंदिरों में आज भी शक्तिशाली नाग वंश के प्रमाण मिलते हैं। नाग अपनी उत्पत्ति इस प्रसिद्ध नाग वंश से ही मानते हैं।

उत्तर भारत में प्रचलित एक मान्यता के अनुसार गुरू गोरखनाथ और कानीपा गुरुभाई थे। गुरू गोरखनाथ ने एक बार भंडारा किया। इस भंडारे में बुलाए गए प्रत्येक अतिथि को अपना इंच्छित भोजन प्राप्त करने की सुविधा थी। कानीपा ने भोजन के रूप में सांप का ज़हर मांगा। उन्हें विष का प्याला भर कर दिया गया। कानीपा इसे पी गए। यदा कदा का मानना है कि वे इन्हीं कानीपा की संतान हैं।

भगवान कृष्ण के साथ जुड़ी सांप की कथा को काफी प्रसिद्ध मिली। कहा जाता है कि वृन्दावन में निवास करते हुए उन्होंने कालीदाह यानी यमुना नदी में कालिया सांप को पकड़ कर उसके फन को बांध दिया और

उससे नृत्य करवाया। इसीलिए कृष्ण को नाग-नथैया और नाग नचैया के नाम से भी पुकारा जाता है।

महाभारत में वर्णित राजा परीक्षित की मृत्यु तक्षक नाग के काटे जाने से हुई थी। ओल्ड टैस्टामेंट के अनुसार स्वर्ग में आदम और हव्वा को शैतान ने सांप का रूप धर कर ही अपनी ओर आकर्षित किया था। बाइबल का कहना है कि व्यक्ति को सांप की तरह बुद्धिमान होना चाहिए।

भारत में नागपंचमी के पर्व पर सांपों को दूध पिलाया जाता है और उनकी पूजा की जाती है। सांपों के साथ जहां एक ओर श्रद्धा की भावना है तो वहीं दूसरी तरफ उनके प्रति भय, आशंका और अविश्वास भी रहा है। जहां शेषनाग को तर्क बुद्धि का प्रतीक माना जाता है वहीं सांप के साथ मृत्यु और धोखा जुड़ा हुआ है।

नाग पंचमी का त्यौहार जब से सृष्टि का इतिहास हमारे सामने आता है तभी से मनाया जाना पाया गया है। वाराह पुराण में उल्लेख है कि इस शुभ-दिन ब्रह्मा जी ने अपने प्रसाद से शेषनाग को विभूषित करते हुये पृथ्वी धारण करने की सेवा सौंपी थी और ऐसी मान्यता है कि तभी से शेषनाग पृथ्वी को धारण किये हुये हैं।

हमारी संस्कृति में नागों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। ये भगवान, विष्णु की शेषनाग शैयया के रूप में, शंकर जी के गले के हार के रूप में तथा समुद्र मन्थन के समय रस्सी के रूप में शोभा बढ़ा रहे हैं। नागों को देवताओं का भाई होने का स्थान भी प्राप्त है। वेदों की अनेक रचनाओं द्वारा नागों की स्तुति भी की गई है जैसा कि:-

"नमोस्तु सर्पेभ्यो ये के च न पृथ्वीमनु। ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यों, नमः वासुक्यादृष्टि कुल नागेभ्यो नमः"

नाग पूजा का विधान हमारे शास्त्रों द्वारा इसलिए प्रतिपादित किया गया है लोगों के मन में नागों के प्रति यह धारणा है कि ये मनुष्य को देखते ही उसे मारने/काटने को आते हैं, जबकि यह धारणा बिल्कुल निर्मूल है। सर्पो की अनेक जातियों में से केवल एक-दो निकृष्ट जाति के सांप ही काटते हैं। यह धारणा इसलिए भी निर्मूल सिद्ध होती है, कि कई बार सुनने में आता है कि अज्ञानवश किसी छोटे बच्चे ने सर्प को पकड़ लिया, उसके साथ कीड़ा की परन्तु सर्प ने उसे नहीं डसा। इस प्रकार की घटनाओं के पीछे बालकों का निश्छल प्रेम और विशुद्ध भावना होती है। किन्तु बड़े मनुष्य, जिनके मन में सर्पो के प्रति उपरोक्त बुरी धारणा व्याप्त है, जब वे किसी सर्प को देखते हैं तो इसी भावना के वश होकर कि कहीं ये सर्प नुक्सान न पहुंचाये, उसे मारने के लिए उद्‌यत हो जाते हैं। उस समय ज्यों ही सर्प के विनाश की भावना हमारे मन में उत्पन्न होती है, तब जो श्वास उच्छ्वास इस भावना से ओतप्रोत होकर निकलते हैं, उनसे वही भावना सामने आये सर्प के मन में भी आ जाती है। इसलिए वह अपने बचाव के लिए काटने इत्यादि की किया करता है। अतः इस दुर्भावना को समाप्त करने का ही इस त्यौहार का उद्‌देश्य है। इस दिन लोग नागों के प्रति श्रद्धा भाव रखते हुये जंगल-खेतों में जहां पर नाग की बाम्बियां बनी होती हैं अथवा मंदिरों में पूजा के लिये जाते हैं और वहां पर श्रद्धा से नाग [illegible] प्रतिमाओं की पूजा करते है एवं कथायें कहते/सुनते हैं, इससे उनके मन में सर्पो के प्रति दुर्भावनायें क्षीण हो जाती हैं और उसे भी अपने की ही तरह ईश्वरीय सृष्टि का अपने जैसा प्राणी मानने लगते हैं।

दूसरा उद्देश्य, गांवों में बसने वाले किसान जोकि रात-दिन खेती बाड़ी के कारण से खेतों में अथवा जंगलों में सर्पो के सम्पर्क में रहते हैं, के भी मन से उस भय भावना को जो कि सर्पो के प्रति व्याप्त है, दूर करना इस पर्व त्यौहार का उद्‌देश्य है।

यह त्यौहार भारतवर्ष में विभिन्न रूपों में यहां तक कि विदेशों में भी मनाया जाता है। भारत में बंगाल में मनसादेवी को नागमाता के रूप में मनाया जाता है। भारत में कहीं इसे गूगे पीर के रूप में मनाया जाता है। बहुत से स्थानों पर नाग देवताओं के मंदिर हैं, जहां पर इनकी पूजा पूरे विधि विधान से की जाती है।

ऐसी मान्यता है कि संगीत की धुन पर सांप नाचने लगते हैं इसलिए सपेरों को बचपन से ही बीणा बजाने की शिक्षा दी जाती है। हालांकि वैज्ञानिक तथ्यों के अनुसार सांप और संगीत का कोई संबंध नहीं है। चूंकि सांप के साथ लगातार एक प्रकार की प्रक्रिया दोहराई जाती है इसलिए वह बीन देख कर अपना फन फैला लेता है और उसे घुमाने लगता है जो दूसरों को नृत्य की तरह प्रतीत होता है। सांप और संगीत आपस में इतने गहरे जुड़े रहे हैं कि विभिन्न नृत्य शैलियों में सपेरा नृत्य एक विशेष नृत्य का स्थान बना चुका है।

(81)

हिन्दू
4 अगस्त 1993

प्राचीन मय सभ्यता के अवशेष मिले

वाशिंगटन, 3 अगस्त (डी.पी.ए.): दक्षिणी बेलीज के पहाड़ी क्षेत्रों में मध्य अमरीका की प्राचीन मय सभ्यता के अवशेष मिले हैं। नेशनल ज्योग्रैफिक सोसायटी के अनुसार ये अवशेष मय पहाड़ियों के दुरुह जंगलों में पाये गये हैं। इनके चार केन्द्र हैं। इन केन्द्रों में ऊंचे मकान कास्त्रो तथा जलाशयों के अवशेष अव्यवस्थित है। कई जलाशयों में तो अभी भी पानी भरा हुआ हुआ है। पुरातत्वेता पीटर एस डरहम के अनुसार प्राप्त अवशेषों से लगता है कि इन केन्द्रों के निर्माता कुशल वास्तुविद् रहे होंगे।

माना जाता है कि मय सभ्यता की शुरूआत एक हजार ईस्वी पूर्व में हुई और लगभग 1500 ईस्वी तक यह फलती-फूलती रही। इसका विस्तार मैक्सिको की यूकैटिक प्रायद्वीप से लेकर बेलीज होंडुरस तथा एल सल्वाडोर तक था। मय सभ्यता के केन्द्रों और इस दौर की कलाकृतियों की तुलना एशिया और अफ्रीका की प्राचीन सभ्यताओं से की जा सकती है।





काठमाण्डू नेपाल पशुपतिनाथ मन्दिर स्थित शिवलिंग श्रृंगार दर्शन

84

इतिहास के दायरों में नाग

पुराणों, ब्राह्मण-ग्र आदि में जो वंशावली दी गयी है, उसे तो 'हिस्ट्री ऑफ पर्शिया' के प्रख्यात लेखक लेफ्टि. कर्नल साइक्स (Syks) और 'एन्शियेन्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन' के लेखक पार्जीटर ने उद्धृत किया है।

मनु के ९ पुत्रों से ९ मानव-कुल चले, जो मूल मानव कुल कहलाये। ९ पुत्रों से जो ९ शाखाएं चलीं, वे सूर्यवंशी मानी गईं। यह उल्लेखनीय है कि उस युग में जो सूर्यवंशी समुदाय होते थे, उन्हीं को 'मानव' संज्ञा संप्राप्त थी। संभवतः यह 'मानव' संबोधन मनु नाम से संबंधित होने से प्रचलित हुआ। नाभानेदिष्ट के अतिरिक्त मनु के शेष ८ पुत्र थे, १- इक्ष्वाकु, २- नृग, ३- धृष्ट, ४- शर्याति, ५- नरिष्यन्त, ६- प्रांशु, ७- करुष और ८- पृषध्र। इनमें नृग को नभाग और सिंह नाम भी दिया गया। बेबिलोन जीता था इन्होंने। राज्य रहा वहाँ।

मनु के इन्हीं मानव-कुलों में जो सातवाँ पुत्र या कुल था नाभानेदिष्ट (नाभोदिष्ट) का - उसका पुत्र भलनन्दन हुआ जिसने वैश्य वृत्ति अपनाई। इसकी सन्तान प्रिभालन्दन भी वैश्य रहे किंतु वे ऋषि कहलाये।

मनु का ९वें मानव-कुल (पुत्र) पृषध्र के पुत्रों की शूद्रवृत्ति रही, - वे शूद्र अभिहित हुए। वैसे वेद में वर्ण-विभेद-जनक कर्म नहीं थे। देवों में कहीं वर्ण-भेद का जिक्र नहीं है ! यह व्यवस्था आगे अस्तित्व में आई। नृग के युग में बेबीलोन दैत्य देश था। परन्तु दैत्यों, दानवों से देवों, मानवों और आनवों के विवाह प्रचलित थे। उदाहरणार्थ, चन्द्रवंशी नहुष के पुत्र ययाति की एक पत्नी दानव-कुल की थी शर्मिष्ठा, तो दूसरी पत्नी थी दैत्यगुरु की पुत्री देवयानी। ययाति का राज्य-विस्तार देव और दैत्य, दोनों लोकों में था।

मनु के जो ९ पुत्र थे, इक्ष्वाकु उनमें सबसे बड़े थे। अयोध्या इन्हीं इक्ष्वाकु की राजधानी थी। इक्ष्वाकु के बाद अयोध्या के राजा विकुक्षि (शशाद), फिर विकुक्षि-पुत्र पुरञ्जय (रामायण का 'वाण'), उसके बाद पुरञ्जय-पुत्र अनरण्य (अनेनस-महातेज-सुयोधन), अनरण्य के बाद उसका पुत्र पृथु, फिर पृथु-पुत्र विश्वगष्व (विष्ट्राश्व) राजा हुए।

त्रैलोक्यविजयी मान्धाता

इसी इक्ष्वाकु - वंश में चक्रवर्ती मान्धाता मानव हुआ जो बड़ा प्रतापी सम्राट् था - सार्वभौम चक्रवर्ती था। यह इक्ष्वाकु की २१वीं पीढ़ी में हुआ। 'गोपथ ब्राह्मण' (१/२/१०) में लिखा है कि "मान्धाता ने सात द्वीपों वाली वसुन्धरा को जीता था।" यह १६ वर्ष का था, तब अयोध्या के सिंहासन पर आसीन हुआ। गोरा रंग, प्रलम्ब आजानु बाहु, वृषभ स्कन्धों वाला मान्धाता अतीव शक्तिशाली था। १० लाख इसकी सेना थी। अपने

विजय-अभियानों में इसने भारत के सभी राज्यों के सिवा लंका से लेकर भूमध्यसागरीय सकल द्वीप भी जीत लिये थे - अफ्रीका तक इसका राज्य-विस्तार था, इसी से इसे 'सार्वभौमचक्रवर्ती' कहा गया । **'हर्षचरित' (तृतीय उल्लास)** में वर्णन है कि **''मान्धाता मार्गणव्यसनेन सपुत्रपौत्रो रसातलमगात् ।'** अर्थात् मान्धाता शिकार के लिए पुत्र-पौत्रों के साथ रसात गया । **'वायु पुराण'** भी कहता है कि **''त्रैलोक्य विजयी नृपः'**

इस वंश ने भारत की सीमाएं आज के अड्रियाटिक सागर (अर्द सागर) तक बढ़ाई थीं । अयोध्या के आर्द के ही नाम पर अर्द (आड्रियाटिक) नाम पड़ा । अयोध्या के युवनाश्व (द्वितीय) के नाम पर 'युवन सागर' नाम पड़ा । मानवों का पहला सार्वभौम चक्रवर्ती - पद प्राप्त सम्राट् अयोध्या की गद्दी पर मान्धाता मानव ही हुआ ।

वैवस्वतु मनु वेदांष थे । अपने ९ पुत्रों में से सातवें पुत्र नाभानेदिष्ट को मनु ने दो सूक्त प्रदान किये, वे दोनों सूक्त ऋग्वेद (६२/६२) में हैं । 'ऐतरेय ब्राह्मण' (५/१४) और तैत्तिरीय संहिता (३-१९) में इसके साक्ष्य हैं । वे सूक्त नाभानेदिष्ट के नाम से विख्यात हैं ।

ऋग्वेद (४/३०/१८) में कहा है कि ''सरयू नदी के किनारे प्रथम आर्य बस्ती बसाई गई थी''

पिता अज दिलीप के पौत्र रघु के ही पुत्र थे । दशरथ की माता थीं 'इन्दुमती' । रानी इन्दुमती अकाल ही काल - कवलित हो गई, जिससे शोकार्त्त हो राजा अज आगे ७ वर्षों तक किसी तरह जिये और फिर प्राण त्याग दिये । रानी इन्दुमती विदर्भ की थी । 'वैदर्भी' कही गईं ।

अयोध्या में जिस समय सूर्यवंशी वृक का राज्य था - उस समय हैहय कुल के तालजंघ ने सब ओर भयानक आक्रमण किये, पर महाबली वृक के कारण उसने अयोध्या पर आक्रमण करने का साहस न किया । वैसी ही वीर-परंपरा के दशरथ भी थे । महाभारत के वन पर्व (२७५६) में दशरथ को 'इन्द्र का मित्र' पवित्र और स्वाध्यायी बताया गया है । इनकी एक रानी कौशल्या अर्थात् राम की माता राजा भानुमन्त की बेटी थीं । भानुमन्त का राज्य था दक्षिण कोशल में । दूसरी रानी सुमित्रा मगध-पति की पुत्री थीं । ये दोनों राज्य दशरथ की अधीनता स्वीकार कर चुके थे । दशरथ के मृत्यु-काल में राम की आयु १७-१८ वर्ष की थी । ये सूर्यवंश की जो प्रमुख शाखा थी उसकी ३९वीं पीढ़ी में हुए ।

आनवों का उत्कर्ष

मान्धाता मानव के साथ चन्द्रवंशी आनव-शाखा का कुछ नामोल्लेख ऊपर किया है, उसका प्रारंभ अनु से होता है, जिसका राज्य गंगा-यमुना के उत्तरी क्षेत्र में था । मान्धाता मानव से हारकर आनव जनमेजय के बाद अनेक आनव पूर्व और पश्चिमी क्षेत्रों में चले गये । आनव जनमेजय अनु की १९वीं पीढ़ी में हुआ । गंगा-यमुना के द्वाबा का राजा अनु ययाति का ही पुत्र था । इसके अन्य ४ भाई थे, तुर्वसु - यदु - पुरु और द्रुह्यु । पुरु से पौरव घराना प्रसिद्ध हुआ और इसकी राजधानी प्रतिष्ठान में रही । इसी चन्द्रवंश की ५०वीं पीढ़ी में युधिष्ठिर हुए ।

आनवों में महामनस चक्रवर्ती सम्राट् भी हुए । ऊपर मैंने जिन राजाओं के लिए 'सार्वभौम' शब्द प्रयुक्त किया है, वे ऐसे चक्रवर्ती थे - जिन्होंने सागर लाँघकर भारतेतरद्वीपों और देशान्तरों तक आर्यावर्त्त की सीमा अपने जय-अभियानों से वृद्धिंगत की थी - उन्हें ही यह 'सार्वभौम' उपाधि प्राप्त होती थी । त्रेता में ऐसे सिर्फ दो ही सार्वभौम पदवी के चक्रवर्ती सम्राट् हुए - उनमें एक मान्धाता मानव थे, दूसरे थे भरत । शेष कुल ११ राजा चक्रवर्ती पदवी वाले हुए ।

प्रारम्भ में आनव-राज्य में केवल द्वाबे का आज के मुरादाबाद - सहारनपुर-बदायूं - देहरादून के समीपवर्ती क्षेत्र आते थे। फिर इनके वंशज पश्चिमोत्तर पंजाब, पूर्व में भागलपुर की ओर (अंगराज्य), मुंगेर, बंग (वीरभूमि-मुर्शिदाबाद, वर्द्धमान, नदिया), कलिंग, बांकुड़ा, मिदनापुर, छोटा नागपुर (पौण्ड्र) अर्थात् पूर्वी विहार, पश्चिमी बंग, उड़ीसा आदि तक फैल गये। आनववंशी लोमपाद अयोध्या के राजा दशरथ के मित्र रहे थे। दशरथ की पुत्री शान्ता को उन्होंने ही गोद लिया था।

कालान्तर से, अनुवंशी यानी आनव गण ने अपना एक राज्य आज के कैस्पियन सागर (कश्यप सागर) के पार जाकर अरब-ईरान तक कायम किया, जिसका हवाला 'हिस्ट्री आफ पर्शिया' (जिल्द १, पृष्ठ ६१-६५) में दिया है - "Site in Trans-Caspia" इसी से ऊपर मानव-आनव नाम दो कुलों को संस्कृत से उद्धृत किया।

चन्द्रवंशियों की मूल गद्दी झूंसी (प्रतिष्ठान) में रही थी। ययाति १४ द्वीपों तक राज्य - विस्तार कर सका था। मरुद् गण आज के समरकन्द से लेकर बिलोचिस्तान तक विचरण करते थे, वहीं वास था। विश्वकर्मा त्वष्टा का उत्तर कुरु पर आधिपत्य था। कर्नल जेम्स टॉड ने भी अपने राजस्थान के इतिहास में लिखा है, 'Uttarcurus of the Greak historians, modern Kurdistan" अर्थात् आज का कुर्दिस्तान आरमीनिया का निचला प्रान्त उस जमाने में उत्तर कुरु के नाम से अभिहित होता था। विवस्वान्-पुत्र यम आज जिसे 'कलात नादरी' कहते हैं ईरान में - उसी के पास अपवर्त के स्वामी थे, आज ईरानी उसी को 'अवर्द' या 'अविवर्द' कहते हैं।

ऐसे ही आज जो तुर्किस्तान के ऊपरले भाग में 'गरडेशिया' है - वहीं गरुड़ का स्वामित्व था। नाग रहते थे आज के हसन अब्दाल, अबीसीनिया, तुर्किस्तान, कोचरिस्तान और सीरिया में। उनकी राजधानी थी तुर्किस्तान में। ये नाग और गरुड़ देवों से बिना विग्रह किए मिलकर चलते थे।

ये सब लोक या देश - प्रदेश पृथिवी पर ही थे, न कि कहीं धरती से परे। ययाति के पिता नहुष देवेन्द्र था। नहुष चक्रवर्ती राजा था। वैदिक मंत्र-द्रष्टा भी था, जैसा कि ऋग्वेद ९/१०१/७९ में साक्ष्य प्राप्त है। उन मंत्रों का ऋषि नहुष ही है।

वस्तुतः, यह सब इतिहास प्राचीन भारत की सांस्कृतिक चेतना का ही गौरव-गरिमा-मंडित इतिहास है।

उपरोक्त उल्लेखित नाग एवं गरूड़ यह दोनों प्रतीकात्मक मानवी वंश की जातियाँ थी। तथा इन जातियों के प्राचीन समय में कई राजवंश प्रचलित थे।

तथा नागोके 9 कुल वंश परम्परा का वर्णन पुराणों में दिया गया है।

87

नाग-परम्परा

भारत में नाग की परम्परा कब प्रारंभ हुई और उसका क्या कारण था, इस संबंध में कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं है, जबकि हमारे अधिकतर देवताओं का सम्पर्क नागों से रहा है। विष्णु का शयन नागों पर होता है तो शिव उसे गले में लपेटे रहते हैं। हमारी पृथ्वी शेषनाग के फन पर स्थित है तो समुद्र-मन्थन नाग-रज्जू से किया गया था।

बंगाल में मनसा देवी की पूजा होती है, ये शिव पुत्री हैं और इनका पालन वासुकी ने किया था, मनसा देवी जरत्कारु मुनि की पत्नी और आस्तिक मुनि की मां थी तथा इन्होंने ही जन्मेजय द्वारा सर्प-यज्ञ में तक्षक नाग को बचाया था। सती बेहुला को इसी देवी ने पुनः प्राणदान दिया था।

वेद से लेकर पुराणों तक में वर्णित कथाओं से स्पष्ट है कि नागों ने मानवाकार, अर्द्ध मानवाकार और विषधर जन्तु का रूप प्राप्त किया है। मोहनजोदड़ो में नाग चिह्न पाए गए हैं **[प्राङ्मौर्य बिहार, डा. देवसहाय त्रिवेद, पृ. 28]। वे** लोग इन्हें देवता के रूप में पूजते थे **[प्रतिमा विज्ञान, डा. इन्दुमती मिश्र, पृ. 347]।** अथर्ववेद में गन्धर्व, अप्सरा तथा यक्षों के साथ इनका वर्णन है- **[गन्धर्वाप्सरसः सर्वान्पुण्य-जनान्पितृहन, अथर्ववेद 8/8/15]।**

आर्यों में नाग-पूजन का प्रचलन नहीं था। यह आर्येतर प्रभाव का परिणाम है। कालान्तर में जब लोग एक दूसरे से घुल मिल गए यानी आर्य-अनार्य का सम्पर्क हो गया तब अनार्यों के अनेक देवी-देवता आर्यों के धर्म में सम्मिलित हो गए। **[प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, डा. जयशंकर मिश्र, पृष्ठ 732 तथा संस्कृति संगम, आचार्य क्षितिमोहन सेन]।**

वैदिक देवताओं में न तो यक्ष को स्थान मिला और न नाग को। महाभारत में यक्ष हैं और नाग भी। महाभारत-युग में यक्षों और नागों को प्रधानता मिली और इतनी प्रधानता मिली कि घर-घर इनकी पूजा होने लगी। यक्षों और नागों का पूजन मांस-मदिरा द्वारा होता था, ऐसा उल्लेख जातक कथाओं में है। जब मूर्ति युग आया तब यक्ष और नागों की मूर्तियां बनीं। **[जातककालीन भारतीय संस्कृति, श्री मोहन लाल महतो 'वियोगी'- पृष्ठ 228]।**

मोहनजोदड़ो के निवासी क्यों नाग मूर्तियों को पूजते थे, यह नहीं बताया जा सकता। विद्वानों का मत है कि सर्प भय से यहां नाग पूजा की परंपरा प्रारंभ हुई है। नाग जिसे काट लेता था, उसे किसी भी हालत में बचाया नहीं जा सकता था। यह दृश्य देखकर आर्य नागों के शत्रु बन गए। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि इन्द्र ने वृत्त और अहिनाग के अहंकार का दमन किया था। महाभारत के अनुसार अर्जुन ने नागों के निवास स्थान खाण्डव वन को जला दिया था। जनमेजय ने नाग-यज्ञ सम्पन्न करके समस्त नागों के विनाश का प्रयास किया था। **[प्रा.भा.सा.इ. पृष्ठ 732]।** विष्णु के वाहन गरुड़ का आहार नाग है। कार्तिकेय का मयूर भी सर्पों का शत्रु है।

महाभारत से लेकर अनेक पुराणों में भी नागों के संबंध में विभिन्न अलौकिक कथाओं का समावेश है। महाभारत के गरुड़ और नाग जातक-युग में थे और उसी रूप में थे। इससे स्पष्ट है कि महाभारतकाल की मान्यता जातक युग में थी। ऐसा जान पड़ता है कि इन्द्र पूजा और नाग- पूजा की जो महिमा उस युग में फैल गई थी, उसका मूलोच्छेद कृष्ण ने किया- गोवर्द्धन उठाकर और नाग नाथकर। नागरिकों की दृष्टि में ये दोनों देवता प्रभावहीन हो गए और तभी से कृष्ण की पूजा प्रारंभ हुई। एक बात और विचारणीय है। नाग सर्प थे, किन्तु उनकी पत्नियां मानवी थीं जिन्हें व्यासदेव ने साध्वी कहा है-

साध्व्य कृतांजलिपुटाः
शमलस्य भर्तुर्मेक्षेप्सवः
शरणद शरणं प्रपन्ना।
।।32।। श्रीमद् भागवत अ 16 स्क. 10 श्लोक 32

उनका हाथ जोड़ना और बाल खोलकर धरती पर लोटना आदि बर्णन यह बतलाता है कि नाग फणोंवाले थे, नाग पत्नियां सुन्दर रमणी के रूप में थीं। यह कल्पना जातक-युग तक ज्यों की त्यों आई है। **[जा.का.भा.सं. पृष्ठ 231]।**

जातक-युग में मातृदेवी, वृक्ष-देवता, यक्षों, नागों तथा असुरों की पूजा होती थी। नागों को जल के निवासी तथा प्रभूत सम्पत्ति का स्वामी माना जाता था। लोग उनसे भय खाते थे। इन नागों की 'सर्प विग्रह' और 'मानव विग्रह' दोनों रूपों में पूजा होती थी। कभी-कभी फणों की आकृति बनाकर पूजा होती थी। सर्प विग्रह प्रतिमाओं को प्रायः सन्तान की इच्छा रखने वाली स्त्रियां पूजती थीं। मानव-विग्रह में नाग-नागी, पुरुष-स्त्री के रूप में दिखाया जाता था। सिर के ऊपर सात या पांच फण रहते थे। **[उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, डा. नलिनाक्ष दत्त, श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, पृष्ठ 16]।**

महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि राजगृह में नाग मन्दिर था। [11-9]। राजगृह

आने पर कृष्ण और अर्जुन ने मणिनाग की पूजा
की थी। जरासंध के शासनकाल में मगध-नाग
पूजा का केन्द्र था। लगता है समाज में नाग-पूजा
का प्रारंभ सर्प-दंशन भय से प्रारंभ हुआ है। एक
स्थल पर भगवान बुद्ध ने अपने अनुयायियों से
कहा है- हे भिक्षुओ, आप लोग नागों के राजकुलों
की पूजा करें। इससे आप उनके दंश से मुक्त होंगे।
[अंगुत्तर निकाय 2/62]। भिक्षुगण नंगे पैर
जंगलों और बीहड़ों में भ्रमण किया करते थे और
अक्सर सर्प उन्हें काट लेते थे, इसलिए बुद्ध ने
ऐसा उपदेश दिया था।

राजगृह नाग-पूजा का प्रधान केन्द्र बन गया
था, यह जैन ग्रंथों से भी प्रमाणित होता है। वहां
आज भी मणिनाग मंदिर का अवशेष है। बौद्ध
जातकों में भी नाग-पूजा संबंधी वर्णन मिलते हैं।
गृह्य सूत्रों ने नागों की पूजा में लावा, भूने यव का
आटा, दूध मिला आटा, जल, बलि आदि देने का
निर्देश दिया है। **[प्रा.भा.सा. इतिहास, पृ
732]।** आज भी नाग पंचमी के दिन इन्हीं
वस्तुओं से पूजा होती है।

कालान्तर में अनेक नाग मूर्तियां भी गढ़ी जाने
लगीं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में फणयुक्त
नाग मूर्त्तियों का वर्णन किया है। पूर्व-मध्य युग
आते-आते नागों की आकृतियां मन्दिरों की दीवारों
आदि में उरेही जाने लगीं। कभी-कभी आधे मानव
आधे नाग की आकृति निर्मित की जाती थी।
भारतीय कथाओं में यह माना जाता है कि पाताल
लोक नागलोक था। वहां के निवासी नाग थे। उस
नगरी का नाम भोगवती था। असम में रहने वाली
आदिम जाति [नागा] नाग-जाति कही जाती है।

बौद्धयुग में नाग-पूजा बहुत प्रचलित थी।
लोगों का विश्वास था कि नाग जल के अन्दर
बड़े-बड़े महलों में रहते थे और अपनी इच्छा के
अनुसार रूप धारण कर सकते थे। क्रुद्ध हो जाने
पर भीषण रूप धारण कर लेते थे लेकिन
साधारणतः और स्वभावतः वे दयावान् और
कोमल- हृदय होते थे। [जातक 1/131]।
धम्मपद अट्ठकथा [3/230] में कहा गया है
कि बनारस के आसपास सात शिरीष पेड़ों का
झुरमुट था और यहीं बुद्ध ने एकपरत्त नाग को
उपदेश दिया था। बनारस में आज भी नाग-पूजा
के अवशेष बचे हैं। वाराणसी के नागरिक उनकी
पूजा, दूध, चावल, मछली, मांस और मद्य से
करते हैं। नाग पंचमी बनारस का प्रसिद्ध पर्व है।
**[काशी का इतिहास, डाक्टर मोतीचन्द्र,
प्रथम संस्करण, पृष्ठ 34]।**

नागों के बारे में यह मान्यता है कि वे
जलस्थानों की रक्षा करते हैं, इसलिए उन्हें वरुण
लोकवासी कहा जाता है। कनिष्क के शासनकाल
में तालाब तथा बगीचों को भूमि नाग कहा जाता
था। कनिष्क के शासनकाल के 26वें वर्ष नागों के
राजा दधिकर्ण के स्थान पर उसकी एक प्रस्तर
प्रतिमा रखी गई। हुविष्क के शासनकाल में
शेनहस्ति और भोणुक नामक दो मित्रों ने अपने
तालाब के मध्य एक नाग प्रतिमा बनवाई।
कुषाणकाल के 52वे वर्ष में बनी नाग प्रतिमा अब
भी मथुरा कला भवन में रखी है। इससे स्पष्ट है कि
उस समय नाग संप्रदाय शक्तिशाली था। कोई भी
तालाब बनवाते समय उसके मध्य में काष्ठ स्तंभ
बनाया जाता था। यह स्तंभ नाग के रूप में
बनवाया जाता था। यही नाग तालाब के रक्षक
माने जाते थे। **[प्रतिमा विज्ञान, पृ. 352]।**

नाग-छत्र पार्श्वनाथ प्रतिमा का आवश्यक अंग
माना गया है। बोधगया वेदिका पर मुचलिंद नामक
नाग बुद्ध के रक्षक बनाए गए हैं। कृष्ण जब
वसुदेव के सिर पर मथुरा से गोकुल जा रहे थे,
शेष नाग के द्वारा वर्षा से उनकी रक्षा हो रही थी।
भरहुत वेदिका पर नाग के तीनों स्वरूप दिखाई देते
हैं। दक्षिणी तोरण स्तंभ पर नागराज दिग्पाल के
रूप में खड़े हैं। लेख में है- ''चकवको नागराजा।''
अमरावती के गोलाकार फलक पर नाग राजा तथा
नागरानी स्तूप की पूजा करते हुए दिखाए गए हैं।
साची तोरण पर भी ऐसा ही दृश्य उत्कीर्ण है।
[प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, डा.
वसुदेव उपाध्याय, पृष्ठ 52-53]।

अजन्ता में नागराज की एक मूर्ति है। यहा
नागराज मानव-रूप में है। सिर पर कई फणोंवाला
छत्र है और बगल में कई सुन्दरी नाग कन्याएं। यह
नागराज और नागरानी की मूर्त्ति है।
[जा.का.भा.सं., पू. 231]।

भरहुत शिल्प में यक्षों और नागों का अंकन
भी खुलकर हुआ है। ये प्राचीन यक्खमह और
नागमह के अंग थे, जिनमें इन दो प्रकार के
देवताओं की पूजा की जाती थी। यक्षों और नागो
की पूजा की जड़ें भूमि में गहरी प्रविष्ट थीं।
**[भारतीय कला, डा. वासुदेव शरण अग्र-
वाल, पृ. 151]।** पाणिनी के अनुसार नाग हाथी
को भी कहते हैं। वाण ने अपने हर्ष चरित्र में
नागवन में जंगली हाथियों को रखने का निर्देश
दिया है। इसके अलावा अमरकोश में नाग के
अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं।

डा. वासुदेव शरण अग्रवाल के कथनानुसार
नाग-पूजा यक्ष-पूजा से प्राचीन है। जातक-युग में
नाग-पूजा का महत्व इसलिए बढ़ गया था कि
लोगों में धन की लिप्सा अधिक बढ़ गई थी। नागों
को लोग धन के देवता मानते थे।

इसके विपरीत कुछ विद्वानों का विचार है कि
नाग एक खूंखार जाति थी। भारत में आर्यों के
आगमन के पूर्व मंगोलिया से आई थी। केवल
हिमालय में ही चौबीस हजार से अधिक नाग रहते
थे। आर्यों का नाग जाति से संघर्ष हुआ। उत्तरी
भारत में आर्यों से परास्त होकर नाग चारों ओर
भाग गए। वासुकि जो नागों का राजा था, वह
गोदावरी द्वारा सींचे जाने वाले स्थान में शासन
करता था। नागों की माता ने भी इन्हें गंगा के
उद्‌भव स्थान में नमी और सीले स्थान में रहने का
शाप दिया था। [प्र.वि.पृ. 352]।

89

यह बात अधिक विश्वसनीय है कि नाग मानवों की एक जाति थी। कल्हण ने राजतरंगिणी में ऐसे नागों का उल्लेख किया है, जो लड़कियों के साथ रहते थे। उसने कर्कोटक नाग का उल्लेख किया है। काश्मीर में आज भी अनन्तनाग, वेरीनाग जैसे अनेक स्थान हैं, जिसमें नाग शब्द है। अर्जुन ने नाग कन्या अलूपी से विवाह किया था। असम की नागा जाति उसी नाग जाति के वंशधर हैं।

इतिहास में नाग वंश का उल्लेख है।

रघु और नागों ने मिलकर त्रेता में शबरों को हराया था। शबरों से रघु और नागों के युद्ध का प्रमाण अजन्ता की पहली गुफा के दृश्य से ज्ञात होता है। इस दृश्य में द्रविड़राज और नागराज के दृश्य में नागराज के पीछे जो व्यक्ति तलवार लिए खड़ा है, वह शबर ही है। [**हर्ष चरित्र एक सांस्कृतिक अध्ययन, डाक्टर** वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ 190]।

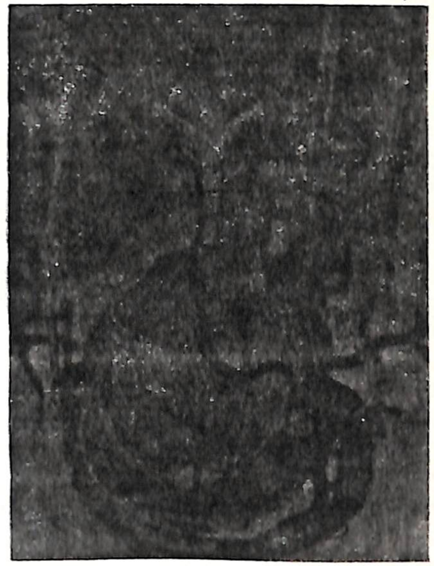
विष्णु पुराण के अनुसार "नवनागास्तु भोक्ष्यंति पुरी पद्मावती नृपा- मथुरांच पुरी रम्यां नागा भोक्ष्यंति सप्त वै" सिद्ध होता है कि पद्मावती से मथुरा तक नागों का शासन था। विष्णु पुराण में जिन स्थानों का उल्लेख है, उसके आधार पर कनिंघम ने यह माना है कि मथुरा के समीप पद्मावती था। उन्हें जो सिक्के प्राप्त हुए थे, वे नागवंश के थे। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख में उन राजाओं की सूची दी गई है जिनको उसने पराजित किया था। इन राजाओं में गणपति नाग का नाम भी आता है। इससे यह स्पष्ट है कि भारत में नाग जाति का शासन था। विद्वानों का विचार है कि भारशिव राजा नागवंशी थे।

नाग केवल सर्प ही नहीं, बल्कि मानव-जाति थे। पूजा भले ही नाग की होती रही, पर कला और शासन के क्षेत्र में नाग जाति का स्थान था। इन नागों ने नागपुर नागरकोइल, नागपट्टन, नाग पर्वत, नागोर, नागद्वीप [निकोबार] नाग समुद्रम, नागनसुर, नाग शंकर, नागदा आदि नामों में अपना नाम जीवित रखा है। बंगाल में नाग-नन्दी उपाधि आज तक प्रचलित है।

नागों की महिमा वर्णन करते हुए 15वीं शताब्दी में 'मनसा मंगल' नामक एक महाकाव्य की रचना श्री विजय गुप्त ने की थी। इस पुस्तक में मनसा देवी के जन्म से लेकर सती बेहुला के पति के जीवन-दान की कहानी है। बंगाल में सत्यनारायण कथा की तरह इस ग्रंथ का पाठ होता है। नाग देवता के प्रति अपनी-अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि- नाग पंचमी को महिलाएं घर-घर में सर्पाकृतियां बनाकर नाग-पूजन करती हैं। वे कालबेलियों द्वारा लाए नागों को दूध पिलाकर तथा किसी वृक्ष के नीचे नाग की बांबी में दूध चढ़ाकर भी पूजा करती हैं। इस तरह नाग-पूजन की प्राचीन परम्परा लोकजीवन में आज भी बनी हुई है।

सांप पालना और खेल दिखाना मदारियों का पेशा है। आज भी नानी-दादी घर की बूढ़ी, बच्चों को मणिधर सांपों की कहानियां सुनाती हैं।

शिवलिंग पर नागों द्वारा छत्र छाया



देश-विदेश में नाग-राज

पुरातन काल से ही भारतीय संस्कृति तथा लोकजीवन में सर्पों का महत्व रचा-बसा है। विशेष रूप से नाग बहुत पवित्र और पूजनीय माना गया है। इसीलिए भारतीय धर्म, कला और संस्कृति में नाग को विशेष स्थान प्राप्त है। नागपंचमी और अनंत चतुर्दशी ऐसे महत्वपूर्ण त्योहार हैं, जिनमें किसी क्षेत्र विशेष में ही नहीं वरन सम्पूर्ण भारत में सांपों की पूजा-अर्चना की जाती है।

महत्व की दृष्टि से नागपंचमी नागों का अत्यधिक महत्वपूर्ण त्यौहार है। इस दिन लोग व्रत रखते हैं। सांपों की विधिवत पूजा-अर्चना करके दान-दक्षिणा देते हैं। इसी दिन सांपों को दूध पिलाना लोग बहुत शुभ मानते हैं। यह बात अलहदा है कि वैज्ञानिक मानते हैं कि सांप सिर्फ दूध से गला तर करता है, वह दूध पीता नहीं।

नागराज वासुकी को सांपों का राजा माना जाता है। नागपंचमी के दिन वासुकी की पूजा भी बड़े उल्लास से की जाती है। हमारे पल-पल में सर्पों की व्यापकता ॐ श्री गणेशाय: की शुरूआत के साथ ही श्री गणेश भगवान के हाथ में नागबाण अस्त्र के रूप में होती है। ॐ नम: शिवाय के साथ में भगवान शंकर के गहनों के रूप में दिखाई देते हैं। भारतीय संस्कृति के पुरातन पुरुष भगवान विष्णु हमेशा ही क्षीर सागर में बहुत से फन वाले नाग की शैय्या पर विराजमान रहते हैं। कहते हैं यही शेषनाग अपने सिर पर पृथ्वी का सम्पूर्ण भार उठाए हुए हैं। भगवान कृष्ण द्वारा कालिया नाग के मान-मर्दन की कहानी आज भी बच्चे-बच्चे को याद है।

इसी प्रकार पुराणों में समुद्र मंथन की कहानी का वर्णन मिलता है, जिसे देव-दानवों ने मिल कर किया था। तब रस्सी के स्थान पर नागराज वासुकी ही थे।

प्राचीन संस्कृत काव्य भी सांपों के वर्णन से सराबोर है। शिव महिमा में नागराज का महत्वपूर्ण स्थान है। 'शिव पंचाक्षर' में भी नागराज को याद किया गया है। भगवान शंकर की पूजा-अर्चना में बार-बार नागदेवता को याद किया जाता है। भगवान विष्णु की उपासना में बार-बार नागराज की स्तुति की गई है।

वैदिक साहित्य में भी सांपों का व्यापक प्रभाव है। ऋग्वेद में 'अहि' शब्द सांपों के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी सांपों का वर्णन है।

महाभारत में बलदाऊ ने भी सांपों की पूजा की है। अर्जुन ने नाग कन्या उलूपी से विवाह किया। अशोक की पुत्री संघमित्रा ने नागराज की जादुई शक्ति का अंत किया था।

पुराणों में नागों को पाताल लोक का निवासी माना गया है। बौद्धकाल में भी सांपों की पूजा होती रही। क्योंकि कुछ ऐसे चित्र पाए गए हैं, जिनमें भगवान बुद्ध सात सिरों वाले नागराज की छाया में विश्राम कर रहे हैं। जहां कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी सर्पों से अछूता नहीं, वहीं कालिदास के 'रघुवंश' नाटक में नाग और उसकी शक्ति का वर्णन है। विभिन्न राज्यों के राजाओं ने समय-समय पर सांपों के प्रभावों को माना है और विशेषकर नागराज की पूजा के योग्य मंदिरों का निर्माण करवाया। प्राचीन छत्रपति राजा अपने सिर पर नागफन अंकित मुकुट को धारण करना अपनी शान समझते थे।

उत्तरी भारत के मंदिरों में नागराज को मनुष्य रूप में मानकर पूजा की जाती है। यह माना जाता है कि नागराज बहुत अच्छे वास्तुशिल्पी थे, जिन्होंने समय-समय पर मयसभा, पाताल, तक्षशिला, मथुरा, मगध और बिलासपुर आदि शहरों का निर्माण किया है। आज भी भारतीय मंदिरों में ईश्वर प्रतिमाओं के ऊपर सांप के फन की छतरी बनाई जाती है। सौराष्ट्र में प्रत्येक गांव में एक सर्प मंदिर होता है। दक्षिण भारत में नागराज की पूजा का बहुत ज्यादा प्रचलन है। यहां पीपल के वृक्षों के नीचे सर्प-आकृतियां रख कर धन, वर्षा तथा संतान होने की कामना करते हुए नागराज की पूजा की जाती है।

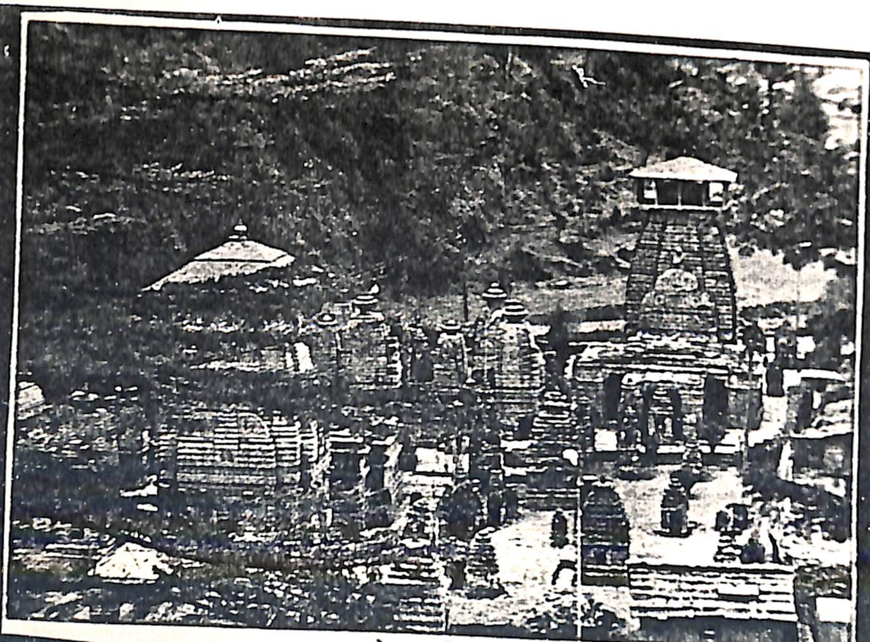
उज्जैन की गुफा नम्बर 19 में नागराज का सात सिरों वाला स्वरूप भी अंकित है। सांची के स्तूप में भी सर्प का अंकन देखा जा सकता है। उसी के एक अन्य स्तूप में एक सम्पूर्ण वृत्त ऐसा बनाया गया है जिसमें नाग को कुंडली मारे हुए दिखाया गया है। इसी प्रकार स्तूप में अनेकों स्थानों पर सर्प-आकृतियां अंकित हैं।

भारतीय संस्कृति में ही नहीं, विश्व के अन्य देशों की संस्कृति में भी नागराज की अपनी एक खासी अहमियत है। ग्रीक देश के वासी सांप और सूर्य की पूजा साथ-साथ करते थे। बेबीलोन वासी भी सर्प की पूजा अपने आराध्य के रूप में करते थे। मिस्र में भी सर्पों की पूजा की परम्परा रही है। कोरिया में तो उसे घर के बुजुर्ग संरक्षक का स्थान प्राप्त था। जापान में भी भारत की तरह पूरे आदर से सर्पों की पूजा होती है। अफ्रीका में भी सर्प को धार्मिक रूप से सम्माननीय स्थान प्राप्त है।

आस्थावानों की यह धारणा है कि नागराज ईश्वर का ही एक रूप है। इनकी पूजा-अर्चना से घरों में सुख-शांति और वैभव आता है। उनकी यही आस्था आज भी नागराज को सुख-शांति का प्रतीक बनाए हुए है। यह सच है कि मनुष्य के हृदय में उसका भयावह रूप ज्यादा स्थायी है, किन्तु अधिकतर सर्प विषहीन होते हैं और मनुष्य को कोई नुक्सान नहीं पहुंचाते।

साभार **दैनिक पंजाब केसरी, जालंधर**

82



जागेश्वर के मन्दिर



मन्दिरों का पुंज जागेश्वर, जिला अल्मोड़ा, उ.प्र. जहां विश्व का पहला शिवलिंग प्रकट हुआ ।

भारत वर्ष के प्रसिद्ध बारह ज्योर्तिलिंगों में से एक ज्योर्तिलिंग जागेश्वर के महामृत्युंजय मन्दिर में स्थित है । महामृत्युंजय मन्दिर की स्थापना नाग जाति के लोगों ने की जो जागेश्वर ग्राम के निकटवर्ती थे, इसलिए इस ज्योर्तिलिंग को नागेश कहते है । जागेश्वर के निकट वेरी नाग, पाताल भुवनेश्वर, आदि नाग जातीयों की बस्तीयाँ थी । शिव पुराण के तेरहवें अध्याय में सर्वप्रथम ज्योर्तिलिंग की उत्पत्ति दारुका वन में बताई है । देवदार के वृक्ष जागेश्वर में है, गुजरात में देवदार के वृक्ष कही नही । श्रीमद् भागवद में पुष्टिदेवी का मन्दिर दारुकावन में बताया है । जागेश्वर धाम में महामृत्युंजय मन्दिर के पृष्ठभाग में ही पुष्टिदेवी का मन्दिर स्थित है ।

हर भारतीय को इस बात की चिंता होनी चाहिए कि हम किस तरह अपने सौन्दर्य स्थलों और पर्वतीय नगरों को शोर, मोटरकारों और लाऊडस्पीकरों के प्रदूषण से बचाएं और वहां शांति बनाए रखें। उत्तर हिमालय में डलहौजी, धर्मशाला, कुल्लू-मनाली, शिमला, अल्मोड़ा, रानी खेत और मसूरी से लेकर पूर्व में कलिम्पोंग और दार्जिलिंग तक वे सभी स्थान जो हवा और स्वास्थ्यवर्धक जलवायु के लिए प्रसिद्ध थे, अब अपना पुराना स्वरूप खो चुके हैं। अब सभी भीड़-भाड़ से भरे हैं, गंदे हैं और कीचड़ में सन कर अपनी जिन्दगी बिता रहे हैं। वे अब रहने योग्य नहीं हैं। पश्चिमी घाट के सौन्दर्य स्थलों, लोनावला, पुणे, नीलगिरी पहाड़ियों और कोललमे के समुद्र तट पर भी यह बात लागू होती है। अब सटोरियों और प्रापर्टी डीलरों ने क्षेत्र के बाहर पहाड़ियां खरीद ली हैं। पहाड़ पर फ्लैटों की कतारें, बंगले, ढाबे, रेस्तरां, शराब और फ्रूट जूस की दुकानें हैं (बच्चों की पढ़ाई के लिए नहीं, पैसा बटोरने के लिए) पीने के पानी की पहले से ही कमी है, बिजली सप्लाई बीच-बीच में बंद हो जाती है और सड़कें इतनी चौड़ी नहीं हैं कि अधिक यातायात ग्रहण कर सकें। क्या हम चुपचाप बैठे रहें स्वरूप बिगड़ने दें ? यह सवाल है अपनी अमूल्य विरासत की रक्षा करने अथवा उसे हमेशा के लिए नष्ट कर देने का।



नाग राजा की एक प्रस्तर प्रतिमा

खरियार पुरातन संग्रहालय-उडीसा- भारत सरकार

उडीसा की राजधानी भुवनेश्वर से करीब 400 कि. मी. दूरी पर पुरातन मारागुडा घाटी में जोंक नदी के किनारे पर एक पहाडी के नीचे नाग राजा की मूर्ति मिली। इसमें नाग राजा पाँच फनों वाले एक सर्प पर बैठा है और सर्प पाँच फन उसके सिर पर छत्र की तरह तने हुए है।

उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर से करीब ४०० किलोमीटर दूर, राज्य के नवगठित नवापारा जिले में मारागुड़ा घाटी पुरातत्व के अनगिनत रहस्यों को समेटे हुए है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान मिले अवशेषों, प्राचीन वस्तुओं और दस्तावेजों से पता चलता है कि आज का यह अनजाना एवं लगभग निर्जन स्थान पाषाणकाल से लेकर १४वीं-१५वीं शताब्दी तक न जाने कितनी सभ्यताओं और राजवंशों के उत्थान-पतन का साक्षी रहा है। पुरातात्विक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण इस स्थान में छुपे रहस्यों पर से यदि पर्दा उठाने के सार्थक प्रयास किए जाएं तो भारतीय सभ्यता के विकास के न जाने कितने ही अनछुए और अनजाने पड़ावों की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

मारागुड़ा घाटी में अब तक हुई खुदाई से पता चलता है कि यह घाटी कभी दक्षिण कोशल की राजधानी कुशावती थी जिसे भगवान राम ने अपने पुत्र कुश के लिए विंध्य पर्वत की तराई में बसाया था। कुश को जहां राम ने दक्षिण कौशल का राज्य दिया था वहीं लव को श्रावस्ती का राजा बनाया था। मारागुड़ा घाटी क्षेत्र को कभी श्रीपुर भी कहा जाता था।

पुरातात्विक महत्व के ऐसे अनेक टीले, जिनकी अभी खुदाई भी नहीं हो सकी है। इस क्षेत्र की व्यापक खुदाई से न केवल भारत में मानव की विकास यात्रा पर ही नई रोशनी पड़ेगी बल्कि इतिहास के अनेक पन्नों की प्रामाणिकता के साथ दुरुस्त करने में भी सहायता मिलेगी।

संभवतः देश में यह एकमात्र ऐसा क्षेत्र है जहां पाषाणकाल से लेकर कुछ ही शताब्दियों पूर्व तक की लंबी विकास यात्रा के प्रमाण मौजूद हैं। लेकिन दुर्गम क्षेत्र होने और इच्छाशक्ति की कमी के कारण यह घाटी आज तक उपेक्षित है। जो भी थोड़ी बहुत जानकारी मिली है वह खरियार के पूर्व शासक श्री अनूप सिंह देव के पुत्र श्री जीतमित्र प्रसाद सिंहदेव के व्यक्तिगत प्रयासों से मिल सकी है। २४ वर्षों तक इस क्षेत्र की व्यापक खोज के बाद श्री सिंह देव ने जो तथ्य अपने अध्ययन पत्र में दिए हैं वे काफी चौंकाने वाले हैं।

यहां एक ओर जहां अनेकानेक विचाराधाराओं, संप्रदायों और धर्मों का प्रचार-प्रसार होता था वहीं विभिन्न वंशों के राजाओं ने विचारकों और विद्वानों को संरक्षण देकर सभ्यता के विकास के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया। नतीजतन एक ओर शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध, जैन आदि संप्रदाय यहां के प्राचीन सामाजिक जीवन में प्रतिबिम्बित होते हैं तो वहीं तांत्रिक विचारधारा भी यहीं परवान चढ़ी थी। मारागुड़ा घाटी में खुदाई के दौरान प्राप्त सामग्री हमें क्या-क्या नहीं बताती।

मारागुड़ा घाटी में पिछले कुछ वर्षों के दौरान मिले अवशेषों से पता चलता है कि आज का यह अनजाना स्थान पाषाणकाल से लेकर १५वीं शताब्दी तक न जाने कितनी सभ्यताओं के उत्थान-पतन का साक्षी रहा है।

पाषाण काल

जोंक नदी और पोलीपारा गांव के बीच एक स्थान से दो कुल्हाड़ियां मिलीं। इन कुल्हाड़ियों और नदी के बहाव को मोड़ने के लिए पत्थरों को जोड़ने की विधि से प्रमाणित हुआ है कि इस क्षेत्र में पाषाणकालीन मानव रहा करते थे। दोनों कुल्हाड़ियां इस समय संबलपुर विश्वविद्यालय के बुर्ला स्थित डा. एन.के. साहू संग्रहालय में सुरक्षित हैं। पाषाणकालीन अन्य प्रमाणों का विश्लेषण किया जाए नृवंशशास्त्र के अनेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ेगा।

सिंधु घाटी सभ्यता

१९७४ से १९८४ के बीच की गई खोज से पता चला है कि मारागुड़ा घाटी की सभ्यता और सिंधु घाटी की सभ्यता के बीच काफी समानता था। ऐसे भी संकेत मिलते हैं कि दोनों सभ्यताकाल के अनार्यों के बीच अच्छे संपर्क भी था। मारागुड़ा घाटी में निकले मिट्टी के बर्तन, पत्थर, तांबे और लोहे के औजार तथा अन्य वस्तुएं काफी हद तक मोहनजोदड़ो में मिली वस्तुओं से मिलती-जुलती हैं।

मारागुड़ा घाटी से मिले उक्त उत्कीर्णन से पता चलता है कि सिंधु घाटी और मारागुड़ा घाटी के निवासियों के बीच संपर्क था और सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक संबंध भी थे। यहां तांबे और लोहे के औजारों का मिलना यह भी प्रमाणित करता है कि यहां सभ्यता सिंधु घाटी के मुकाबले ज्यादा तेजी से विकसित हुई। अनेक भागों में ऐसा भी हुआ था कि ताम्रकाल की अवधि ज्यादा नहीं रही और उस काल के लोग पत्थर से सीधे लोहे के इस्तेमाल पर उतर आए थे।

इस घाटी के अवशेषों की विशेषता यह है कि ये विभिन्न काल की सभ्यताओं और राजवंशों के बारे में सिलसिलेवार जानकारी देते हैं।

रामायण काल

पश्चिमी उड़ीसा का एक विस्तृत क्षेत्रदक्षिण कोशल के रूप में जाना जाता है। यहां ऐक्ष्वक राजा शासन करते थे जो स्वयं को अयोध्या के राजा रामचंद्र का वंशधर मानते थे। भगवान बुद्ध की इस क्षेत्र की यात्रा से पता चलता है कि मारागुड़ा घाटी दक्षिण कोशल की राजधानी कुशावती थी जहां बुद्ध तीन महीने रहे थे। वाल्मीकि रामायण से पता चलता है कि भगवान राम ने अपने पुत्र कुश के लिए विंध्य पर्वत की तराई में कुशावती नगर बसाया,था और कुश को

दक्षिण कोशल का राजा नियुक्त किया था। दूसरे पुत्र लव को उन्होंने श्रावस्ती का राज्य दिया था।

"कुशास्य नगरी रम्या विंध्य पर्वतरोधसि।
कुशावतीति नाम्ना सा कृता रामेणाधीमता॥
श्रावस्तीति पुरी रम्या श्रविता च लवस्य च।
अयोध्यां विजनां कृत्वा राघवो भरतस्त दा॥"
(८,१०४, ४-५)

जब अयोध्या की व्यवस्था चरमराने लगी तो अयोध्यावासियों के अनुरोध पर कुश ने अपनी नई राजधानी कुशावती छोड़कर अयोध्या का राजकाज संभाला। इससे संकेत मिलता है कि मारागुड़ा घाटी (कुशावती) और अयोध्या के बीच सीधा संपर्क था। इस क्षेत्र का संबंध रामायणकाल से होने का पता यहां के आदिवासियों के रहन-सहन के तौर-तरीकों और मान्यताओं से भी चलता है। पश्चिमी उड़ीसा के ही कोरापुट जिले में रहने वाली बड़ा आदिवासी स्त्रियां स्वयं को सीता के अभिशाप से अभिशप्त मानती हैं।

तांत्रिक उपासना

मिली वस्तुओं से भी प्रमाणित हुआ है कि उस काल में शिव और शक्ति की लिंग और योनि के रूप में भी पूजा की जाती थी। इनकी पूजा सृजन और ऊर्जा मातृत्व और उर्वरता की प्रतीक थी।

मारागुड़ा घाटी में साथ-साथ रहे शैवों और शाक्तों की मिश्रित विचारधारा से तंत्र विद्या और तांत्रिक उपासना पद्धति का विकास हुआ। यही तांत्रिक विचारधारा धीरे-धीरे उड़ीसा के सामाजिक और आर्थिक जीवन में क्रांति का कारण बनते हुए अनेक विश्व प्रसिद्ध मंदिरों में मूर्तियों के रूप में स्थापित हो गई। उड़ीसा के जगप्रसिद्ध कोणार्क, जगन्नाथ, लिंग राज, साक्षी-गोपाल और न जाने कितने ही मंदिरों में काम मुद्रा में उत्कीर्ण मूर्तियां इसी तांत्रिक विचारधारा के विकास का प्रमाण हैं। उड़ीसा के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक ताने-बाने में अनोखा रंग भरने वाली ये मूर्तियां कई तरह से उड़ीसा के लोगों के जीवन को प्रभावित करती रही हैं।

एक ओर जहां ये मूर्तियां मंदिरों में भगवान के दर्शनार्थियों की कामेच्छा की परीक्षा लेते हुए भगवान के प्रति उनकी सही आस्था और ध्यान की कसौटी बनती थीं, तो दूसरी ओर कलिंग की लड़ाई में सम्राट अशोक की सेना के हाथों मारे गए हजारों युवकों से विहीन हुई इस धरती पर जीवित बच गई अधेड़ पीढ़ी को संतान उत्पत्ति के लिए भी ये मूर्ति प्रेरित करती रहीं।

मारागुड़ा घाटी में अनेक देवी-देवताओं, राजाओं आदि की मूर्तियों और शिलालेखों के अलावा काम मुद्रा में अप्सराओं, कन्याओं और तांत्रिकों की कलापूर्ण मूर्तियां भी निकली हैं। एक मूर्ति में काम लीला के लिए उद्यत एक तांत्रिक की कुटिल हंसी और कुटनी के साथ खड़ी एक युवती की अत्यन्त कलापूर्ण मूर्ति मिली जो इस समय खरियार संग्रहालय में सुरक्षित है।

इस कला को यहां राज करने वाले कुषाण, सात वाहन, वाकाटक, नल, सरभपुरिया, पांडुवंशी, सोमवंशी कलचुरि और चौहान राजाओं ने भरपूर संरक्षण और प्रोत्साहन दिया।

यहां कुछ टीलों की खुदाई में ईंटों और पत्थरों से निर्मित मंदिरों के अवशेष, रानी महल के भूमिगत राजसी स्नानागार के कक्ष और देश में अपनी तरह का पहला शैव विहार परिसर, प्रहरी स्तंभ, राजकोषागार, आवासीय कक्षों के अवशेष, सड़कें, कुएं, तालाब, खाई, परकोटे आदि निकले हैं। इतना ही नहीं, यहां सुंदर मूर्तियां, शिलालेख, तांबे और सोने के सिक्के, शक्तिपीठ, शिवलिंग, लोहे के औजार, कीमती पत्थर, मालाएं, मिट्टी के बर्तन आदि भी मिले हैं। ये सभी चीजें पहली शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक की हैं।

देवी मंदिर

इस क्षेत्र में एक देवी मंदिर के अवशेष भी मिले और सिंह पर सवार महिषासुरमर्दिनी की एक प्रतिमा भी मिली जो लाल पत्थर पर बनी है। इस मूर्ति की ऊंचाई ४ फुट और चौड़ाई साढ़े तीन फुट है। इस शक्ति मंदिर के पास ही शक्ति मठ के आचार्य के निवास स्थान का अवशेष भी है जहां पत्थर की बनी उनकी एक मुद्रा भी मिली। पांचवीं सदी की इस मुद्रा पर ब्राह्मी लिपि में 'घिमातीश्वर' अंकित है। यहां बलि देने के उपयोग में लाया जाने वाला लोहे का एक स्तंभ है जो डेढ़ हजार वर्ष पुराना है और इस पर आज तक जंग नहीं लगी है और इसकी चमक भी बरकरार है।

यहां रानी महल टीले की खुदाई में एक-दो मंजिले भवन के अवशेष मिले हैं जो १२वीं शताब्दी के बताए गए हैं। यहां २२ फुट ऊंची दीवार से घिरा ५० फुट×४० फुट का एक कक्ष निकला। इसके साथ ही एक अन्य कक्ष भी है जो इस समय टीले में दबा हुआ है। दोनों कक्ष दोहरे परकोटे से घिरे हैं और दोहरे परकोटे की दीवारों में ४ फुट का अंतर है।

पुरातात्विक श्री एन.के. साहू ने १९८३ में महल टीले खुदाई की। यहां भी एक दोमंजिले

भवन के अवशेष मिले। इनमें विभिन्न आकार के १२ कक्ष हैं। प्राप्त प्रमाणों से संकेत मिलता है कि यह भवन मध्ययुगीन न्यायालय था। यहां एक कक्ष से कलचुरी राजा जाजल्लदेव काल (ई. सं. १०९०-११२०) का तांबे का एक सिक्का भी मिला है।

मध्ययुगीन न्यायालय भवन के अवशेषों की खोज अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे यह पता चलता है कि यहां की सभ्यता और प्रशासन का स्तर काफी ऊंचा था। महल टीले की खुदाई में अभियुक्तों के लिए दो कारागार कक्षों का भी पता चला है। कारागार की दीवारें २० फीट ऊंची हैं और अपराधियों को बांधने के लिए दीवारों में कांसे के रिंग लगे हुए हैं।

जोंक नदी के पास झलक गांव क्षेत्र में दो विशाल शिवलिंग मिले। इनमें से एक भुवनेश्वर में और दूसरा नवापारा शहर में एक वकील के पास है।

उड़ीसा पुरातत्व विभाग को यहां खुदाई के दौरान कार्तिकेय की एक प्रतिमा मिली। लाल पत्थर से बनी इस प्रतिमा से संकेत मिलता है कि यहां एक और शिव मंदिर था और यह मूर्ति पार्श्वदेवता के रूप में वहां स्थापित थी। त्रिशूल टीले की खुदाई में एक और शक्ति मंदिर निकला है। ईंटों से निर्मित इस सुंदर मंदिर में गर्भगृह में शक्तिपीठ है। मंदिर में ८ देवियों की मूर्तियां भी लगी हैं और मंदिर के प्रवेश द्वार पर ८ सुंदर स्तंभ हैं। इन स्तंभों पर मंदिर की छत टिकी है जो अब अवशेष मात्र ही है।

१९८० में यहां प्राचीन सरभपुरिया काल के सोने के सिक्के मिले। इनमें से पांच महेंद्रादित्य शासनकाल एक क्रमादित्य शासनकाल और दो प्रसन्नमात्र शासनकाल के हैं। एक ही स्थान पर मिले इन सिक्कों से पता चलता है कि ये सभी राजा एक ही परिवार के थे और मारागुड़ा घाटी ही प्राचीन सरभपुर थी। इनमें से कई सिक्के उड़ीसा राज्य संग्रहालय, भुवनेश्वर में हैं जबकि राजा प्रसन्नभागा काल के दो सिक्के भी जे.पी. सिंहदेव के खरियार स्थित संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

१९७३ में यहां नन्नराजा उर्फ नन्नदेव की राजकीय मुद्रा मिली जो इस समय संबलपुर विश्वविद्यालय संग्रहालय में सुरक्षित है। नन्नराजा ने ५३० से ५४० ईसवी सन् में दक्षिण कौशल में राज किया और सोमवंशी शासन की स्थापना की थी।

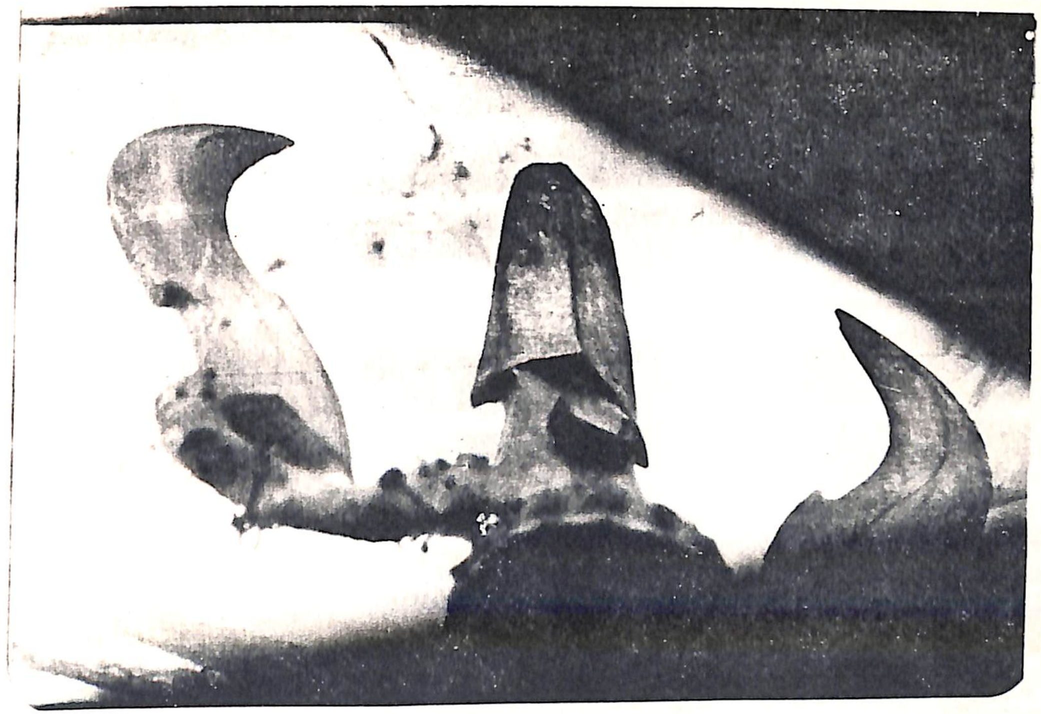
नागराजा की मूर्ति

मारागुड़ा घाटी में जोंक नदी के बाएं किनारे पर एक पहाड़ी के नीचे नागराजा की एक मूर्ति मिली। इसमें नागराजा पांचफनों वाले एक सर्प पर बैठा है और सर्प के पांच फन उसके सिर पर छत्र की तरह तने हुए हैं। यह मूर्ति खरियार संग्रहालय में है। महल टीले से कलचुरी चेदी काल के कुछ सिक्के निकले हैं। १९७९ में एक राजा भी भग्न मूर्ति निकली। यह मूर्ति इस समय खरियार संग्रहालय में है। ऐसी ही १२वीं शताब्दी के किसी कल्चुरी चेदी राजा की मूर्ति रायपुर के घासीदास संग्रहालय में है। यह मूर्ति रतनपुर किले से निकले थे। ऐसी ही एक अन्य मूर्ति जबलपुर में कालीतराई क्षेत्र में निकली जो रायपुर के संग्रहालय में है।

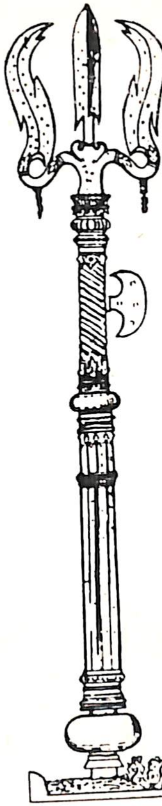
१९८० में श्री जे.पी. सिंहदेव को एक कल्चुरि रानी की मूर्ति मारागुड़ी घाटी में मिली। इस मूर्ति के ऊपर भी राजा भी मूर्ति की तरह एक राजसी छत्र है। पद्मासन में बैठी रानी की यह मूर्ति भी खरियार संग्रहालय में सुरक्षित है। यह मूर्ति कई वर्ष पूर्व मारागुड़ा घाटी में रहने वाले लोगों ने रैतालसागर और जोंक नदी के बीच के क्षेत्र से खोज निकाली थी। इस क्षेत्र में एक ध्वस्त नगर के अवशेष हैं और संभवतः इस रानी ने एक मंदिर बनवाया था और उसके सम्मुख अपनी मूर्ति स्थापित करने की परम्परा थी।

मारागुड़ा घाटी में एक विकसित शहर के जो अवशेष मिल रहे हैं वे इस क्षेत्र की समृद्धि और महत्व का प्रमाण हैं। पाषाणकाल के अवशेषों से लेकर १४वीं-१५वीं शताब्दी तक यहां सभ्यता का विकास हुआ। सड़कों, तालाबों, मंदिरों के अलावा महलों, भवनों किलों के भग्नावशेष तथा बेशुमार मूर्तियों, मणिमालाओं, स्वर्ण मुद्राओं तथा अन्य सामग्रियों का खुदाई में प्राप्त होना यही प्रमाणित करता है कि आज इतिहास के अंधेरे में खोया यह क्षेत्र कभी समृद्ध और खुशहाल लोगों से आबाद था। विडंबना यह है कि इस क्षेत्र की सुनियोजित प्राचीन नगर सभ्यता के अवशेषों की खोज में न तो सरकार ने ही वांछित ध्यान दिया है और न ही समाचार माध्यमों ने यहां के रहस्यों पर से पर्दा उठाने की समुचित कोशिश की है। बीहड़ जंगलों में स्थित यह क्षेत्र दुर्गम होने के कारण भी संभवतः यहां की महत्वपूर्ण जानकारियां लोगों तक नहीं पहुंच पाई हैं। यह सारा क्षेत्र आज भी अफ्रीका की तरह रहस्यों के अंधेरों में खोया हुआ है।

आश्चर्य इस बात का है कि जहां के जर्रे-जर्रे में बेशकीमती रत्न भरे हों, जहां के जंगलों में अपार वन और खनिज संपदा भरी हो, जहां प्राचीन सभ्यताओं के असंख्य अवशेष विद्यमान हों, जहां की सांस्कृतिक और लोककला सीधे प्रकृति से ऊर्जा लेकर दमदमाती हो— वह क्षेत्र भूख, बीमारी, कुपोषण, बच्चों की बिक्री जैसी समस्याओं को लेकर तो चर्चित रहा है लेकिन बाहरी दुनिया इस क्षेत्र के ऐतिहासिक और पुरातात्विक महत्व के बारे में अनजान है।



1070

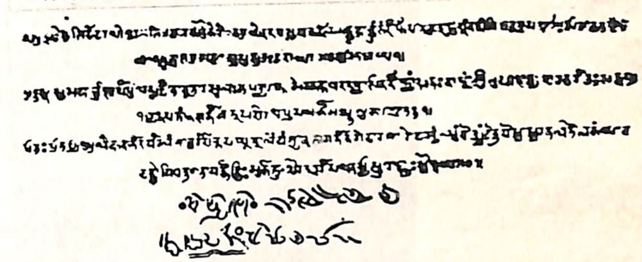


गुह का बाड़ाहाट त्रिशूल अभिलेख

बाड़ाहाट (उत्तरकाशी) उ. प्र.

लिपि	--	उत्तरी ब्राह्मी (कुटिला)
भाषा	--	संस्कृत
समय	--	छठी शताब्दी ई.
प्राप्तिस्थान	--	बाड़ाहाट (उत्तरकाशी) उ. प्र.

अभिलेख :—



मूलं अभिलेख :-

१. ॐ। आसीद्यः क्षितिपो गणेश्वर इति प्रख्यातकीर्तिर्नरैः
चक्रे येन भवस्य वेश्म हिमवच्छृंगोच्छ्रितं दीप्तिमत्।
कृत्वाणुर्व्वनजाधिपस्वकृपणैः सामात्यभाग्यश्रियं
स्मृत्वा शक्रसुहृत्त्वमुत्सुकमनाः यातःसुमेर्वालयम्।।

२. पुत्रस्तस्य महाभुजो विपुलहृक पीनोन्नतोरःस्थलः
रूपत्यागनयैरनङ्गधनदव्यासानतीत्योद्गतः।
नाम्ना श्रीगुह इत्युदारचरितः सद्धर्मधुर्यस्सतां
शक्ति शत्रुमनोरथप्रमथनीं शम्भोश्चकाराग्रतः।।

३ प्रातः प्रातर्मयूखैरुरुभिरविरलं शार्वरं ध्मान्तमन्ध-
न्नालुंचश्चन्द्रतारानिकरपरिकरोदारशारोदरत्वम्।
स्वं बिम्बं चित्रबिम्बाम्बरतलतिलकं यावदर्को विधत्ते
तावत्कीर्तिः सुकीर्तिश्तिरमरिमथनस्यास्तु राज्ञः स्थिरेयम्।।



मनसा देवी-नाग देवी

भारतीय पुरातन विभाग-भारत सरकार

हिन्दी अनुवाद :-

"ॐ। प्रसिद्ध कीर्तिवाला एक गणेश्वर नाम का राजा हुआ था। उसने अपने सेवकों से हिमालय के शिखरों के समान ऊँचा दीप्तिशाली शिव मन्दिर बनवाया। उदार भावोंके वशीभूत होकर उसने मन्त्रियों सहित अपनी लक्ष्मी को सम्बन्धियोंको दे दिया। तदनन्तर इन्द्र के साथ मित्रता का स्मरण करके वह सुमेरु पर्वत को (श्री केदार खण्ड पुराण के अनुरुप नाग पर्वत तथा नाग और गंगा का सान्निध्य, गंगा सहस्त्रनामस्तोत्र में गंगा जी का तंगण (नागोंकी) जननी नाम से उल्लेख विशेषतापूर्ण हैं।) घर बना कर वहीं चला गया ॥१॥

उस गणेश्वर का पुत्र गुह हुआ। वह बड़ी भुजाओंवाला, विशाल नेत्रोंवाला, मोटे और उँचे वक्षःस्थल वाला, रूप से कामदेव को, त्याग से कुबेर को और नीति ज्ञान से व्यास को तिरस्कृत करनेवाला था। उदार चरितवाले तथा सज्जनों के मध्य उत्तम धर्म को धारण करनेवाले उस राजा ने शत्रुओं का विनाश करने वाली शक्ति का शिव मन्दिर के आगे निर्माण कराया॥२॥

जब तक सूर्य प्रत्येक प्रातःकाल अपनी विशाल किरणों से रात्रि के अन्धकार का निरन्तर विनाश करता हुआ, एवं सुन्दर चन्द्र तथा तारों के समूह के विशद विस्तार को नोचता हुआ सुन्दर आकाश के तल पर अपने बिम्ब का तिलक लगाता रहेगा, तब तक शत्रुओका विनाश करनेवाले उस राजा गुह की उत्तम कीर्ति स्थिर रहेगी॥३॥"

लेख के प्रारम्भमें ॐ पद प्रारम्भ का तथा अन्त में 'ठ' पद अन्तका सूचक है।

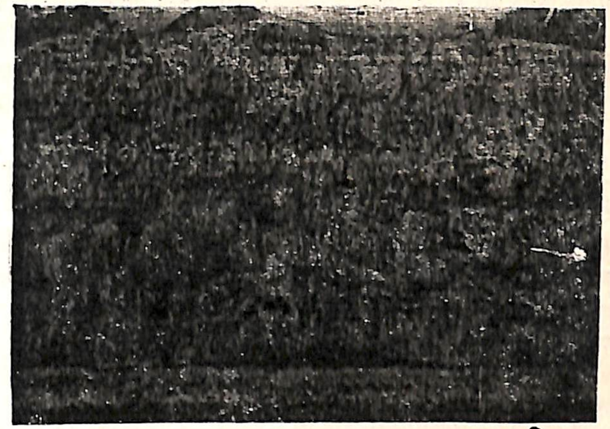
उत्तरकाशी में प्रमुख मन्दिर विश्वनाथ का है। उसके सामने शक्ति मन्दिर है। इसके मध्यमें एक त्रिशूल है। त्रिशूल की उँचाई २६ फीट है। इसकी परिधि नीचे $8^{3}/_{4}$ फीट तथा उपर $1^{1}/_{4}$ फीट है। इसका नीचे का भाग पीतल का और उपर का भाग लोहे का है। इस पर गणेश्वर और गुह नामक नागवंशी राजाओं का नाम अंकित हैं। लिपि और भाषा के आधार पर इसको गोपेश्वर तथा शुद्ध महादेव के त्रिशूल का समकालीन माना जा सकता है।

यहां एक अन्य भी अभिलेख है। यह पूरा नही है। यह किस राजा का है, यह भी विदित नहीं हो सका है। इसकी दो पंक्तिया इस प्रकार है।

यस्य तत् कर्म तच्छ्रं गोच्छ्रतं दीप्त

तिलकं यावदर्केऽपि धत्ते तावत् कीर्तिः सुकीर्तिः दोरक्षामयी तस्यास्तु राज्ञः॥

ऊपर वर्णित अभिलेख में गणेश्वर और गुह नागवंशी राजाओं के नाम अंकित है। ये नागवंशी राजा थे। गोपेश्वर के त्रिशूल के एक अभिलेख के अनुसार उस त्रिशूल की स्थापना स्कन्दनाग, विभुनाग और अंशुनाग के वंशज गणपतिनाग ने की थी तथा शुद्ध महादेव स्थित त्रिशूल अभिलेख के अनुसार नागवंशी राजा विभुनागस्य पुत्रे......गणपतिनाग ने त्रिशूल की स्थापना की थी। विद्वानों ने इस गणपतिनाग और गणेश्वर को एक ही बताया है। इस गणेश्वर ने



गंगा अवतरण-मम्मालपुरम-7 वी शताब्दी
शिला (पत्थर) पर उत्कीर्ण
पुरातन संग्रहालय गुमेट-पैरीस



गंगा अवतरण का विशेष भाग
मानवी रूप में नाग गंगा में तैर रहा है ।
बांये दो देवता स्वरूप नर नारी
और बिल्ली चूहों का मनोरंजन कर रहे हैं ।
हावर्ड विश्व विद्यालय, फाग कला पुरातन संग्रहालय

बाड़ाहाट में विश्वनाथ मन्दिर बनवाया तथा उसके पुत्र ने इस मन्दिर के सामने शक्ति मन्दिर की स्थापना की। तीनों त्रिशूलों (गोपेश्वर, शुद्ध महादेव, और उत्तरकाशी) मे अद्भूत समानता है तथा वे एक ही कारीगर के बनाये हुये लगते है। सम्भवतः अभिलेख को भी एक ही कारीगर ने उत्कीर्ण किया होगा। शुद्ध महादेव, बाड़ाहाट और गोपेश्वर एक ही नागवंशी शासन के अन्तर्गत रहे होंगे। बाड़ाहाट से गोपेश्वर की आकाशीय दूरी केवल ६० मील है। पैदल मार्ग की दूरी भी केवल ८० मील है।

इस त्रिशूल लेख से विदित होता है कि गणेश्वर (गणपतिनाग) की प्रख्यात-कीर्ति थी और वे क्षितिप थे। उसके राज्यकाल की घटनाओं का विवरण प्राप्त नहीं होता। जम्मू-कश्मीर राज्य के उधमपूर जिलेमे तहसिल चेनानी के अन्तर्गत शुद्ध महादेव (वर्तमान का) और पुरातन हिलदाऽना-लधाना-लदाना (भद्रवाही भाषा शब्द) ग्राम में शिव मन्दिर स्थित त्रिशूल पर ब्राह्मी लिपीमें संस्कृत भाषामें अभिलेख उत्कीर्ण है जिसमें विभुनागस्य पुत्रे.....गणपतिनागंस्य यह नागवंशी राजा का नाम अंकित है।

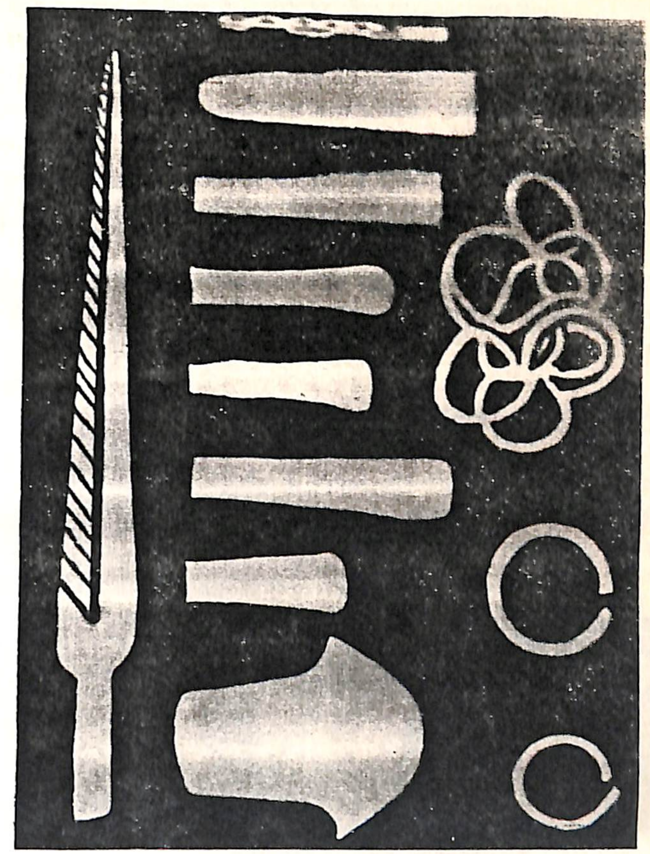
भौगोलिक परिस्थिती अनुरुप कश्मीर के नागवंशी राजाओं का शासन का तथा शुद्ध महादेव के पड़ोसी भद्रवाह के नागवंशी राजा वासुकि का शासन प्रमाण सभी विद्वानों ने स्विकार किया है। आज भी वहाँ नागदेवता कुलदेवता के स्वरुप में मानी जाती है और लोग अपने को नागवंशी बताते है। इन तीनों त्रिशूल अभिलेख शुद्ध महादेव (जम्मू), बाड़ाहाट (उत्तरकाशी-उ.प्र.) तथा गोपेश्वर (चिमोली-उ.प्र.) इनके अलावा आज वर्तमान में इन तीनो के समान चौथा बृहद त्रिशूल नेपाल में काठमाण्डू के पशुपतिनाथ मन्दिर के पीछे बागमती नदी के किनारे स्थित है।

मथुरा के पास पवाया प्रागैतिहासकी पद्मावती नगर के उत्खनन में नागवंशी शासकों के सिक्के मिले हैं। उन पर नागवंश के संस्कृति चिन्ह स्वरुप त्रिशूल तथा त्रिशूल एवं परशु अंकित है।

बरेली प्रागैतिहास का नगर अहिछत्रा से नागवंशी शासन के पुरातात्विक सबल प्रमाण प्राप्त हुये है। तथा दक्षिण के भार्शिव वाकाटका नागंवंशी राजाओं का इतिहास भरा पड़ा है।

गंगाद्वार संस्कृति (बहादराबाद-हरिद्वार) के पाषाण एवं ताम्र युगीन अवशेष प्राप्त हुये है।जिससे महाभारत कालीन वर्णित अर्जुन-उलूपी नाग कन्या विवाह की कथा, हस्तिनापूर यह नगर कई बार निर्मित और नष्ट हुआ। मूल नगर हस्तिन् (संस्कृत शब्दका शब्दार्थ नाग) यह नागवंशी राजा हस्तिनने बसाया था। तक्षक-जनमेजय कथा स्थान शुकताल आज भी नजदीक विद्यमान है।

वैदिक साहित्य में एवं अथर्ववेद में नागो की स्तुति तथा कई स्थानो पर जिक्र यह पूर्व आर्य एवं आर्योत्तर मूल भारत के आदिम निवासीयों की संस्कृति मिलाप-मिश्रण का द्योतक



गंगाद्वार (नाग) संस्कृति

बहादराबाद (सहदेवपुर-हरिद्वार) के पाषाण उपकरण तथा ताम्र उपकरण (पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

है। जैन एवं बौद्ध धर्म साहित्य में भी नागों का जिक्र तथा नाग को छत्र-आसन स्वरुप में स्विकार किया गया है। आर्यो के पूर्व या आर्योत्तर लुप्तप्राय नाग संस्कृति भारत वर्ष के आदिम निवासीयो की प्रमाणों सहित प्रचिती मिल रही है। आज भी नागों की देवी-माता के रुपमे मनसा देवी हरिद्वार में स्थित है। गंगाद्वार संस्कृति (नाग संस्कृति)

वास्त विकता में नाग संस्कृति यह हड़प्पा-मोहजदड़ो संस्कृति से भी पुरातन थी। गढ़वाल के चिमोली जिले मे नीति-माणा, तिब्बत के सीमावर्ती गावों मे भोटियों की एक जनजाति तंगण (नाग) कहलाती है और इस भूभाग का परतंगण नाम से जिक्र पुराण काल से किया गया है। इससे पुरातात्विक प्रमाण पुराण कथाओं का जगह जगह पर आज भी कश्मीर से लेकर नेपाल तथा अरुणाचल प्रदेश तक मिल रहा है। पूरे हिमालय के निवासी लोग कहीं कहीं अपने आप को नागवंशी कहलाते है और कुल देवता स्वरुप में नाग की प्रमुखतया पूजा भी की जाती है।

उपरोक्त नागवंशी राजा गणेश्वर का पुत्र गुह था। पिता की मृत्यु के बाद वह राजा हुआ। अभिलेख से विदित होता है कि वह महाबली, विशाल नेत्रोंवाला, सुदृढ तथा उन्नत वक्षःस्थल का, कामदेव के समान सुन्दर, दानशील, नीतिज्ञ, शास्त्रों का ज्ञाता, धार्मिक और उदार चरित का था।

धार्मिक दृष्टि से गुह तांत्रिक-वाममार्गिय शैव उपासक था। उसके राज्य में शत्रुओं का उपद्रव हुआ होगा। इसीलिये उसने शक्ति को शत्रुओं के मनोरथ का विनाश करने वाली लिखा है। इसकी पुष्टी शुद्ध महादेव के त्रिशूल अभिलेख से भी शत्रूओं का उपद्रव सन्दर्भ में गणपतिनाग-विभुनाग के पुत्र ने की है। प्रयाग प्रशत्ति पत्र अभिलेख में गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त ने नौ नागवंशी राजाओं का विनाश करने का जिक्र किया है। इनमें स्कन्दनाग, भवनाग (सम्भवतः विभुनाग) गणपतिनाग आदि नाग राजाओ का जिक्र है।



पूर्वी पंजाब के वृष्णि (नाग-चन्द्रवंशी) कबीले का एकमात्र ज्ञात सिक्का (चांदी) । यह कबीला कृष्ण को अपना पूर्वज मानता था ।

आज भी मथुरा-अलीगढ़ के पास इन्ही वृष्णियों की वार्ष्णेय बिरादरी है । सिक्के पर स्तम्भ है जिसके शीर्ष में एक हाथी और एक सिंह है ।



पंजाब में होशियारपुर से, तीसरी शताब्दी

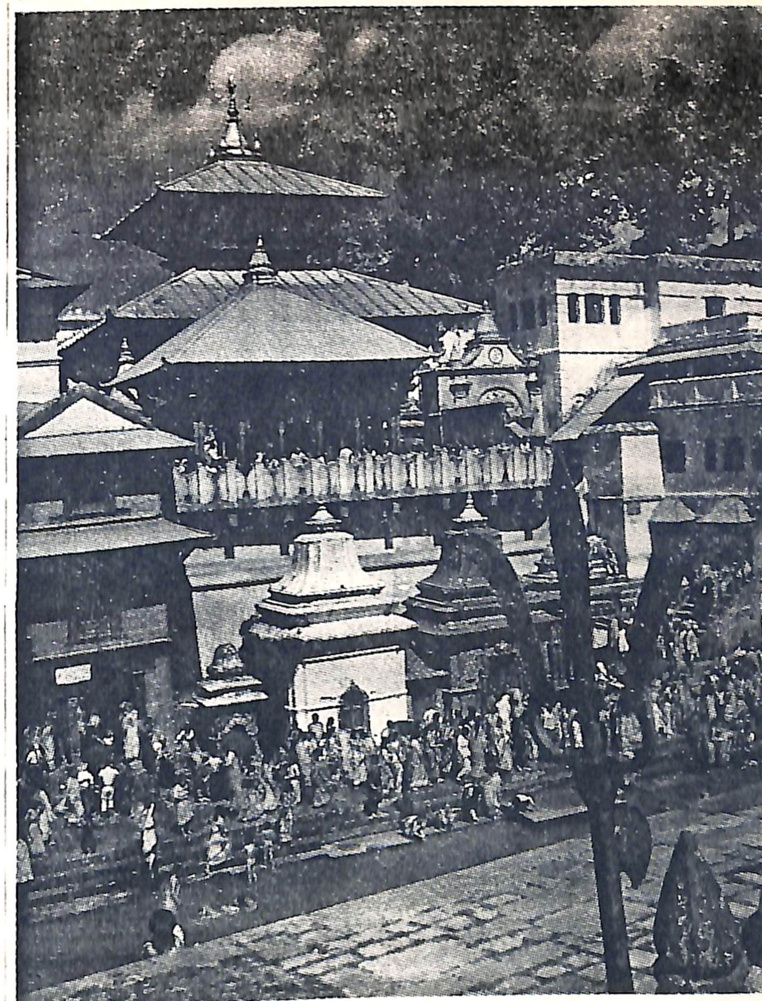
निचली काबुल घाटी में प्यूकेलाओटिस (नागवंशीओं की नगरी पुष्करावती) के चांदी के सिक्के । विरूद है :

पखलावदी देवद अम्बी (पुष्करावती की देवी), कमलाधारिणी मातृ देवी ।



108

काठमाण्डू-नेपाल स्थित पशुपतिनाथ मन्दिर के पीछे



बागमती नदी के किनारे स्थित त्रिशूल-परशु नागवंश चिन्ह

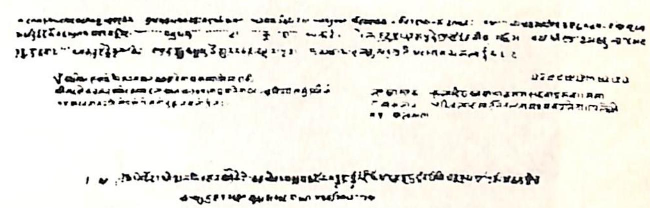


अशोकचल्ल का गोपेश्वर त्रिशूल अभिलेख

गोपेश्वर, जिला चमोली, उ. प्र.

लिपि	--	ब्राह्मी
भाषा	--	संस्कृत
समय	--	१२ शताब्दी ई.
प्राप्तिस्थान	--	गोपेश्वर का पशुपतिनाथ मन्दिर

अभिलेख :-



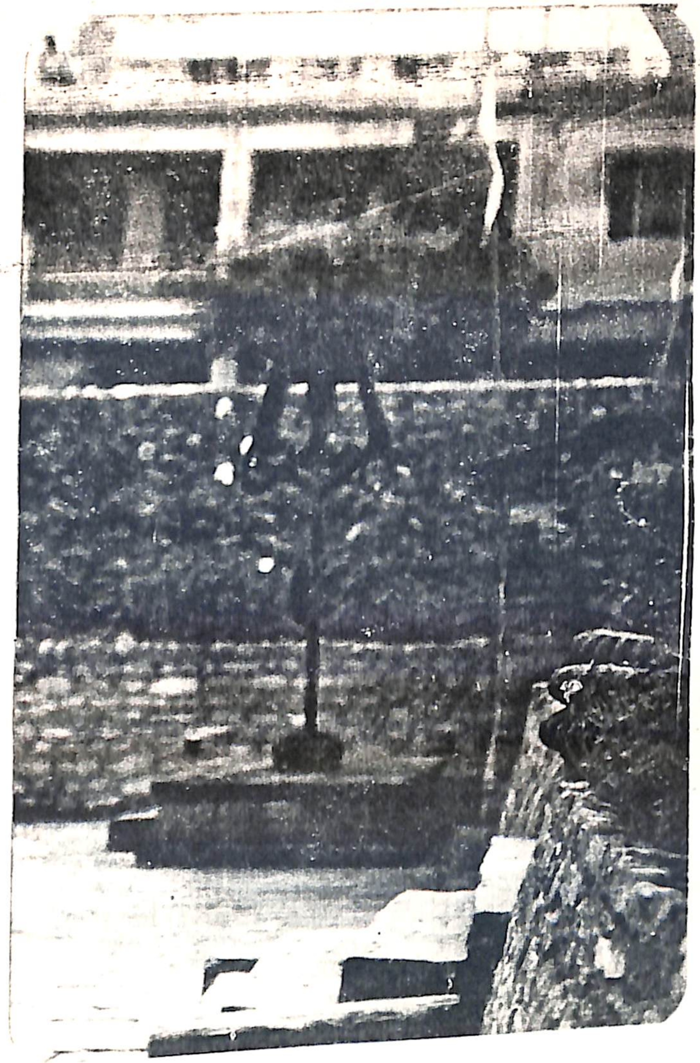
मूल अभिलेख :-

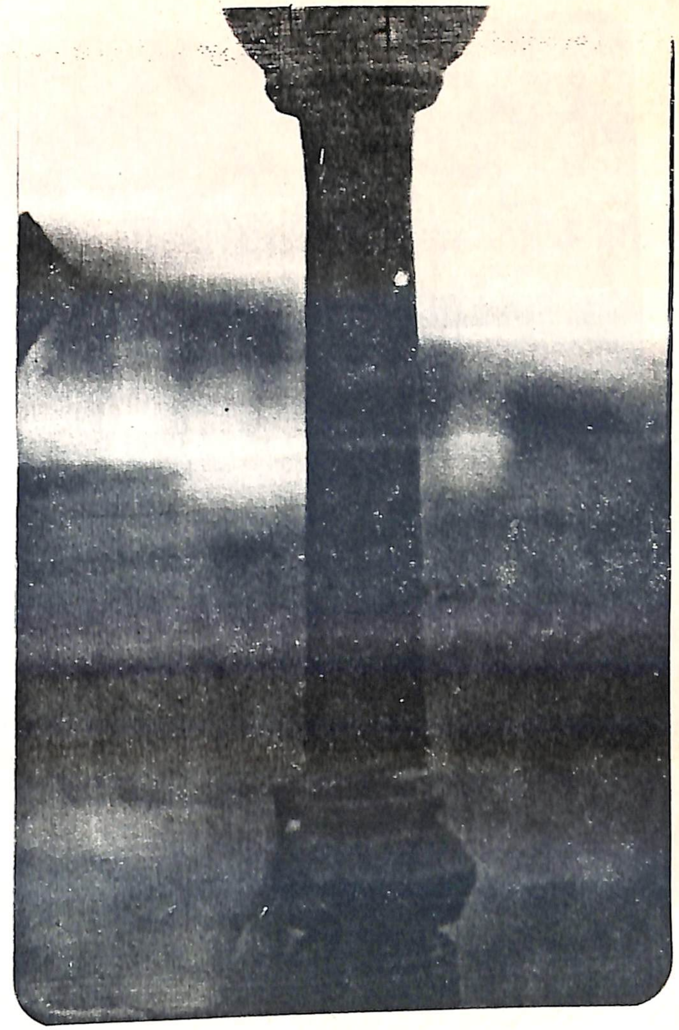
ॐ स्वस्ति ॥ कृत्वा दिग्विजयं महालयमहादेवास्त्ररसंस्थामिमां,
राज्य श्री-मदशोकचल्लनृपतेः स्तम्भच्छलान्नीतवान्
पश्चाच्च प्रतिरोप्य तत्र विजयस्तम्भं प्रतिष्ठामगा-
दुत्खातप्रतिरोपणं हि महतां युक्तं नतानां पुनः ॥

हिन्दी अनुवाद :

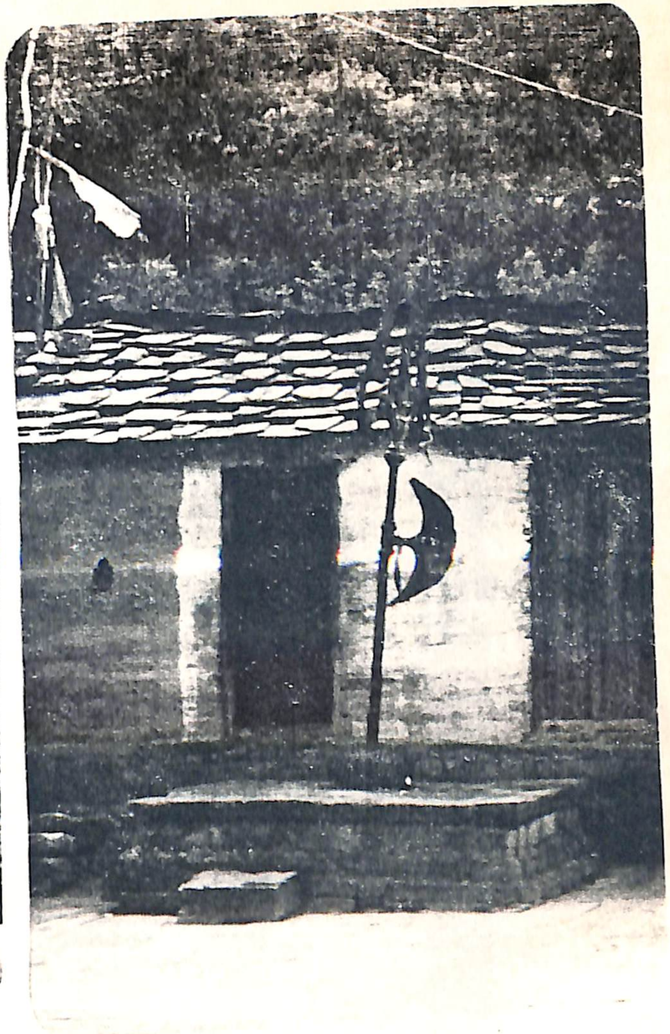
"ॐ कल्याण हो॥ श्रीमान् अशोकचल्ल राजा ने विविध दिशाओं को जीत कर, एक महान् स्तम्भ के समान ही महादेव की इस भुजा को इस महान् मन्दिर में प्रतिष्ठित किया। इसके बाद उसने विजयस्तम्भ को प्रतिष्ठित करके प्रतिष्ठा को प्राप्त किया। महान् पुरुषों के लिये यह उचित ही है कि वे उद्धत शत्रुओं को उखाड़ फैकें। पुनः विनम्र होने पर उनको पुनः प्रतिष्ठित कर दें।"

गोपेश्वर का पशुपतिनाथ मन्दिर (शिव मन्दिर) अति भव्य और विशाल है। यह अति प्राचीन मन्दिर गढ़वाल के शिव मन्दिरों में दूसरे नम्बर पर गिना जाता है। इस मन्दिर के प्रांगण में एक विशाल त्रिशूल है। इस त्रिशूल पर कुछ अभिलेख है। इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से ये बहुत महत्वपूर्ण है। एक अभिलेख में नागवंशी राजाओं स्कन्दनाग, विभुनाग, अंशुनाग और पशुपतिनाग का उल्लेख है। दूसरे अभिलेख में अशोकचल्ल का वर्णन आता है।



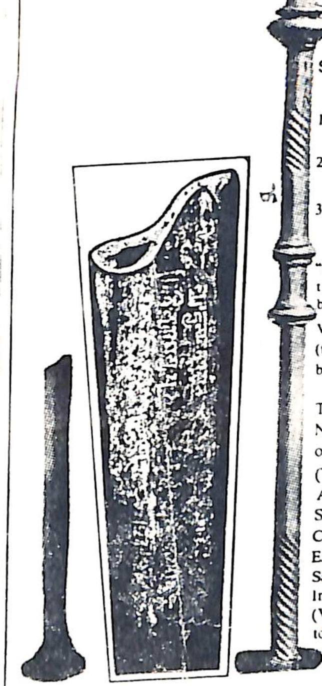












Shuddh Mahadev Inscription

TEXT

1. सिद्धम् [।*] स्वराज्यसंवत्सरे
   पंच... ...त... ...मत
2. विभुनागस्य पुत्रे [*ण]........
   पतिना लोक (?)
3. गच्छन्ति ये तु क्षयं........

Translation

"Success has been attained. In the year 5 of his own rule... ... by the son of (Maharaja) Vibhunaga, the lord of... (the benefactor of the) world... but those who perish..."

The inscription Of the son of Naga Maharaja Vibhunaga on the shaft of broken Trisula (Trident) of Third centuries A.D. Similar to Mathura Stone Pillar Inscription of Chandragupta II, Dated in Gupta Era 61. Language of inscription is Sansrit in Brahmi Script. In Kalhana's 'Rajatarangini' (VII 185) reference to dedication to the service and worship of deity or consecration of trisulas, similar to Gopeswar (Garhwal-U.P.) and badahat (Garhwal-U.P.)

At - Village Sudha Mahadev, Shiv Mandir; Tahsil - Chenani,
Dist. - Udhampur, Jammu & Kashmir State

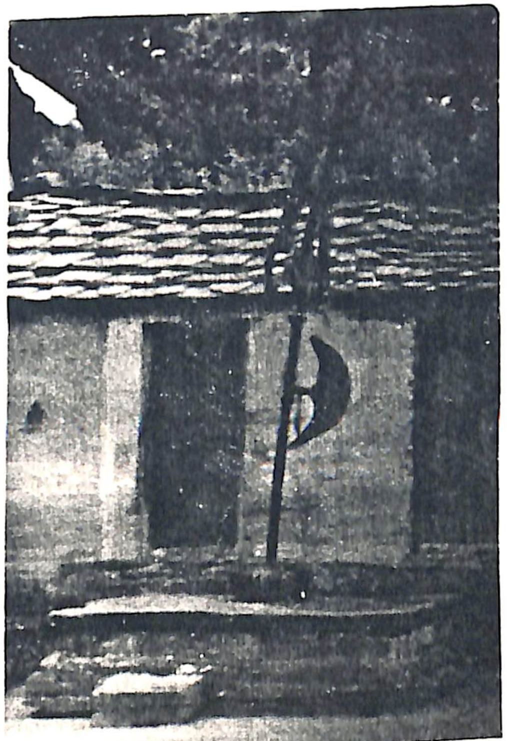
कुछ विद्वानो ने उसको अनेकमल्ल या अनीकमल्ल पढ़ा है। अशोकचल्ल नागवंशी राजा था और वह सपादलक्ष (शिवालक पर्वत श्रेणियो कश्मीर से लेकर हिमाच्छादित हिमालय पर्वत की श्रेणियों तक का खस देश) का अधिपति था। बोधगया के एक अभिलेख से अशोकचल्ल के सपादलक्ष का राजा होने का प्रमाण मिला है। इस अभिलेख से यह भी विदित होता है कि अशोकचल्ल का छोटा भाई दशरथ था।

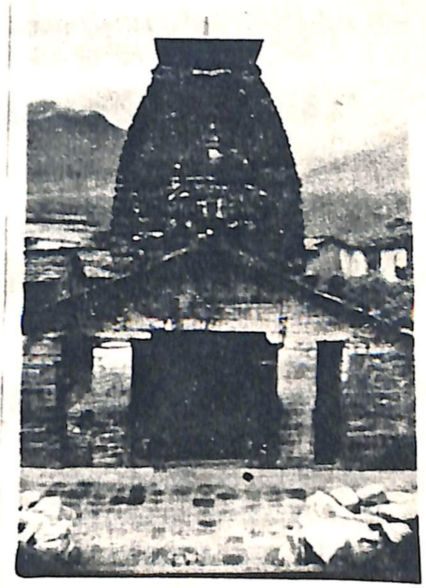
"निजनिश्चितप्रशस्तिसमलङ्कृतसपादलक्षशिखरिखसदेशराजाधिराज

श्रीमदशोकचल्लदेवकणिष्ठभ्रातृश्रीदशरथनामधेयकुमारपादपद्मोपजीवि।"

(बोध गया के एक अभिलेख का अंश इण्डियन एण्टीक्वेरी जि. 10 पृ. 346)

गोपेश्वर के अभिलेख से प्रमाणित है कि इस नेपाली राजा ने सम्पूर्ण गढ़वाल को जीत लिया था। गोपेश्वर में उसने शिव का विशाल मन्दिर बनवाया था। अशोकचल्ल का एक अभिलेख उत्तरकाशी के विश्वनाथ मन्दिर के सामने शक्ति मन्दिर के त्रिशूल पर भी अंकित है।





हिमालय मे जहाँ छोटे बड़े विजेताओ ने अपनी विजय गाथा को त्रिशूलों और शिलाओ पर अकित करके तब तक के लिए सुरक्षित कर दिया जब तक भगवान भास्कर अपनी तरूण किरणो से रात्री के अन्धकार को दूर करके प्रातःकाल नक्षत्रो की चित्रावली को हटाकर गगन पटल पर अपनी बिम्बरूपी तिलक लगाते रहेंगे ।

जहाँ ककड-पत्थरों से आच्छादित दो-चार पर्वतीय खेतों का दान करनेवालो ने हंसयुक्त विमानों में बैठकर सुर लोक पहुंचने और वहा साठ सहस्त्र वर्ष तक अपना अड्डा जमाए रखने का अधिकार ताम्रपत्रों पर खुदवा डाला । वहाँ साधारण शिलाओं को दिव्यशक्ति सें सम्पन्न एवं निरन्तर भुक्ति-मुक्ति प्रदान करने में समर्थ देवमूर्तियोमें परिवर्तित कर देनेवाले कलाकारों ने अपना नाम, अपना स्थान, अपना अस्तित्व कुछ भी प्रगट न होने दिया । देव मन्दिर-देव विग्रह निर्माण कर लेने पर उसी में विलीन हो गए । इसलिए श्रद्धा-भाव से उनके द्वारा निर्मित मन्दिरों-पूजा स्थानों में दिखावे की, स्वार्थपूर्ति की, लोभ की अपेक्षा उनकी दृष्टी स्थायी और कलापूर्ण निर्माण की ओर थी । अनेक प्राचीन मन्दिरो में यह कलापूर्ण मूर्तियां स्वार्थ परक पुजारीयों का उपेक्षित भाव—असावधानियां, लोभ-मोह तथा भूचाल और आततायियों के प्रहार से यद्यपि उनकी अधिकांश कला कृतियां नष्ट हो गई हैं, फिर भी जो शेष है वे उनके कौशल और उपत्यका के प्राचीन वैभव की अमर कला के स्मारक है ।

विक्रम की तीसरी शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक बने अधिकांश मन्दिर शास्त्रीय विधि के अनुसार निर्मित मिलते है । उनके लिए स्थान चयन बड़ी सावधानी से किया गया था । वे प्रायः जलाशय के पास, ऊंचे पहाडी टीलों पर, मार्गो के केन्द्र या अन्यत्र रमणीक स्थानों पर बनाये गये हैं । वे उपासना के चिन्तन-मनन एवं अध्ययन के स्थल-आध्यात्मिक चिन्तन के समाज केन्द्र थे । आज उन्हें आधुनिक संस्कृति का प्रतिबिम्ब विकृत वासनाओं को उत्तेजित करनेवाली कामुक, भोग परस्त, गतिविधियाँ पर्यटक होटल आदि से हिल स्टेशन और पर्यटन केन्द्र बनाने की होड, धन बटोरने का साधन मात्र बनायें जाने लगे है । पर्यटन बनाम विनाशकारी संस्कृति ने इन तीर्थ स्थलों की अक्षुण्ण मर्यादा ही भंग करके आध्यात्मिक वातावरण प्रदुषित कर दिया है । शुद्ध महादेव ग्राम स्थित शिव मन्दिर में स्थापित त्रिशूल-स्तम्भ ईसा की तीसरा शताब्दी से आज तक करीबन ढेढ़ सहस्त्र वर्ष (1600 वर्ष) की वर्षा और धूप भी जिस पर जंक नही ला सकी है उसका निर्माण शिल्पकारों ने स्थानिय लोहे से किया था । इस त्रिशूल लेख स्तम्भ के रासायनिक विश्लेषण से विदित हुआ कि यंह

पिटवां लोहे का बना है । और इसमे कोई मिश्र धातु नहीं है । इस लोहे का घनत्व 7.81 है । शुद्धतम पिटवा लोह जो आज तक तैयार हो सका है उसका घनत्व 7.84 है ।

इस त्रिशूल लेख स्तम्भ के लोहे की परीक्षा करने पर उसमे लोहा आदि को निम्न प्रतिशत में पाया है ।

लोहा - 99.720

कार्बन - 00.080

सिलिकन - 00.046

गन्धक - 00.006

फास्फोरस - 00.114

मैगनीज - — —

इस त्रिशूल लेख स्तम्भ के लोहे में मैगनीज का अभाव महत्वपूर्ण बात है । गन्धक भी बहुत कम मात्रा में है । इससे अनुमान किया गया है कि लोहे को बनाने में लकड़ी के कोयले का उपयोग किया गया होगा । जिस अयस्क से यह लोहा तैयार किया गया होगा, वह भी अतिशुद्ध रहा होगा ।

फास्फोरस की मात्रा अधिक होना, मैगनीज का अभाव एवं गन्धक का कम होना इस लोहे की विशेषता है । सम्भवतः इन तीन वातो का यह फल है कि लोहा परिस्थितियों के प्रभाव से अब तक सुरक्षित रह सका । न इस पर हवा पानी का प्रभाव पड़ा और न ही गर्मी-सर्दी का । यह भी सम्भव है कि इसे तैयार करने के पश्चात जब बुझाया गया हो तो इसके पृष्ठ पर लोहे के चुम्बकीय औक्साईड की एक पतली सी तह जम गई हो जिसने इसकी सुरक्षा की।

(दृष्टव्य देखें-प्राचीन भारत में रसायन का विकास सत्यप्रकाश पृष्ठ 784-785)

उपरोक्त त्रिशूल को भगवान शिव का बताकर,अज्ञानी समाज को भ्रमित करके उनके धर्म श्रद्धा भाव को भुनाने के, धर्म स्थानों का अपने स्वार्थ पूर्ती हेतू व्यवसाय करनेवाले असामाजिक अधर्मी तत्वोंने, मन्दिर पर अधिकार करके इस अति महत्वपूर्ण पुरातात्विक प्रमाण त्रिशूल लेख को मिटाने के भरकस प्रयास किये गये है । जिसके परिणाम स्वरूप आज इस त्रिशूल लेख के ब्राह्मी लिपी के बहुत सारे शब्द मिट गये है और कुछ एक अस्पष्ट बन गये है ।

118

तांत्रिक/वाममार्गी शैव/
या मंत्रयानमार्गी बुद्ध
शैली की प्राचीन मूर्ती



स्थान - ग्राम शुद्ध महादेव-शिव मन्दिर
(चैत्य), तहसील-चेनानी, जिला-उधमपूर,
जम्मू एवं कश्मीर राज्य स्थित

मन्दिर स्थापत्य कला एवं मूर्तिकला

शुद्ध महादेव ग्राम स्थित शिव मन्दिर के मूर्ति परिप्रेक्ष्य में

गुप्त काल के पूर्व प्राचीन मन्दिर काष्ठ से निर्मित होते थे । आरम्भिक गुप्त काल के हिन्दू मन्दिर बिना शिखरवाले होते थे । उनकी छत का पटाव सपाट पत्थर रखकर किया जाता था । प्राचीन मन्दिरों में छोटे मन्दिरों पर नागर शिखर और बड़े मन्दिरों पर कत्यूरी शिखर मिलता है ।

सारे हिमालय के प्रदेश में कश्मीर से नेपाल तक सभी प्राचीन मन्दिर कटी शिलाओं से बने मिलते हैं । इनमें मुख्यतः भूरी या मटमैली बालुज शिलाओं अथवा ग्रेनाईट का प्रयोग हुआ है । शिलाओं को भीतर से लोहे की कीलों या सब्बलों के द्वारा जोडा जाता था । पत्थरों के बीच में चूने का प्रयोग भी किया जाता था । दीवार बन जाने पर भीतर और बाहर से ऐसी घुटाई की जाती थी की जिससे शिलाखण्ड एक दूसरे से भली प्रकार जुड़े प्रतीत होते हैं ।

नागर या आर्य शिखर का निर्माण गर्भगृह की चपटी छत से आरम्भ होता है । चारों कोनों से दीवारें गोलाकार एवं संकीर्ण होती हुई उपर जाकर एक बिन्दू पर मिलती है । इसके उपर एक गोल शिला होती है । जिसकी परिधि को अनेक वृत्तों में बांटकर चक्र के समान सजाया जाता था । शिखर का निचला भाग आमलक और अन्तिम भाग कलश कहलाता है ।

नागर शिखर वाले मन्दिर प्रायः 12 से 15 फीट से उँचे नही है । कत्युरी शिखर वाले मन्दिर 20 फीट से 30 फीट तक ऊँचे मिलते है । उनकी दीवारें सीधी ऊपर उठकर जब शिखर की ओर ढलती है तो उन्हें अधिक झुकना नहीं पड़ता । उनके ऊपर छोटी चपटी पाषाण छत लगती है । इस छत्त के उपर विशाल वृत्ताकार पाषाण आमलक रखकर उसे उपर से चपटी आयताकार पटाल शिलाओं की या लकड़ी या पाषाण की छोटी छोटी तीलियां आमलक तक लगाते है जो सजावट के अतिरिक्त शिखरवेष्ठिनी को थामे रखती है । नागरशिखर वाले कतिपय मन्दिर गुप्तकालीन मन्दिरों से रोचक समानता रखते हैं । और गुप्तकाल के प्रतीत होते हैं ।

1. गुप्तयुग में पहली बार हिन्दू मन्दिरों के लिए पत्थर का प्रयोग किया गया । इसके पूर्व मन्दिर काष्ठ के बनते थे ।
2. गुप्तकाल में मन्दिरों की स्थापना एक ऊँचे चबूतरे पर की जाती थी, इन पर चढ़ने के लिए चारों और सीढ़ियाँ बनी होती थी ।
3. प्रारम्भिक मन्दिरों की छते चपटी होती थी, किन्तु पीछे मन्दिरों के शिखर बनने लगे ।
4. मन्दिर की बाहरी और भीतरी दीवारें सादी होती थी ।



5. गर्भगृह में प्रवेश के लिए एक ही द्वार होता था, जिसके द्वार स्तम्भ अलकृत होते थे । द्वारपाल के स्थान पर गंगा-यमुना की मूर्तियां बनाई जाती थी ।

6. गर्भगृह के चारो और प्रदक्षिणा मार्ग बनाया जाता था जो छत से ढका रहता था । छोटे मन्दिरों के आगे छोटा सा गोपुर (बरामदा) बना रहता था ।

7. मन्दिर के स्तम्भों पर अनेक प्रकार के बेलबूटे खोदे जाते थे । उनके उपर एक वर्गाकार प्रस्तर रहता था । जिस पर आधे बैठे पीठ से पीठ मिलाए चार सिंहो की मूर्तियां बनाई जाती थी । उन्हीं स्तम्भों पर छत टिकी रहती थी ।

8. आरम्भिक गुप्तकाल के मन्दिर प्रायः 10 फीट x 10 फीट आकार के होते थे । उनमें मूर्ति के लिए तो स्थान होता था, पर अधिक दर्शनार्थी एक साथ मन्दिर के अन्दर नहीं जा सकते थे ।

9. मन्दिरों के द्वार पटों पर अलंकरण के रूप में व्याल और कीर्तिमुख का प्रयोग गुप्तकाल के तक्षण कलाकारों को सबसे अधिक प्रिय था ।

10. गुप्तकाल के कुछ मन्दिरों में एक सिंह हाथी पर आक्रमण करते दिखलाया गया है । जिसका अर्थ विद्वानों ने अन्धकार या अज्ञान के उपर ज्ञान की विजय माना है ।

गुप्तकालीन मन्दिरों की उपरोक्त विशेषताएं भारत के मन्दिरों के निर्माण काल का निर्णय करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । जिन मन्दिरों में उपरोक्त विशेषताएं मिलती है वे गुप्तकाल के या उसके परवर्ती हो सकते है लेकिन पूर्ववर्ती नहीं ।

(दृश्टव्य. देखें मजूमदार-अल्तेकार-वाकाटका-गुप्त एज पृष्ठ 41

शुद्ध महादेव ग्राम स्थित शिव मन्दिर के परिप्रेक्ष्य में यह मन्दिर की स्थापना एक ऊंचे चबूतरे पर की गयी है । इस का स्पष्ट दर्शन हाल ही में नव निर्माण पूर्व 30 वर्षों के पूर्व के समय होता था । इससे अनुमान है कि कांगड़ा हिमाचल प्रदेश के देवी मन्दिर वज्रेश्वरी जैसा यह भी मन्दिर मूलतः चैत्य बौध्द उपासना का स्थल रहा होगा, बाद में शिव मन्दिर में परवर्तीत किया गया । क्योकि बौद्ध धर्म के पतन पश्चात् हजारों चैत्यों का परिवर्तन मन्दिरों में किया गया है ।

प्राचीन काल की मूर्तियाँ उनके कलाकारों के आश्चर्यजनक कौशल को व्यक्त करती है । जिन भाव भगिमाओं को कागज पर भी अकित करना कठिन है उन्हें उंन्होने पाषाण पर अकित कर दिया है । विष्णु और हर गौरी की जो मूर्तियां शताब्दियों से प्रतिवर्ष सहस्त्रों नर नारियों को भावमग्न करके अपने चरणों पर लुटाती आ रही है । उनका निर्माण करते समय ये कलाकार कितने अधिक भावमग्न हुए होगें । सावधानी से शिला का चयन कर लेने पर उन्होने कितनी उत्सुकता, श्रद्धा और भक्ति से किसी शुभदिन पर, पूरे विधी विधान से मंगल पाठ और मनौती मानकर शिला पर गेरू से वाछित रेखा चित्र खीचे होगें और फिर कितनी



एक बेमिसाल पुरातन चर्तुमुखी शिवलिंग

सम्भवतः कुषाण काल

तन्मयता से सांस रोककर छेनी के प्रत्येक प्रहार के समय पूरी सावधानी रखते हुए उन्होंने धीरे-धीरे देव विग्रह का निर्माण किया होगा । जब उनके जीवन की सबसे बड़ी साध, इष्टमूर्ति की रचना, निर्विघ्न पूर्ण हो गयी तो मानो उन्होंने अपना प्राण ही मूर्ति में प्रविष्ट करके उसकी प्राण प्रतिष्ठा कर डाली । मानव और देवी-देवताओ के अग प्रत्यगो के स्वाभाविक अनुपात का उन्हें समुचित बोध था । विभिन्न देव विग्रहों के लिए उचित शिला की छांट और उसके द्वारा अत्यन्त प्रभावोत्पादक देव विग्रहो के निर्माण मे वे पूर्ण कुशल थे । उन्होंने एक सहस्त्र या अधिक वर्ष पूर्व स्वनिर्मित मूर्तियों पर जो वज्रलेप या कल्पक लगाया था, वह शताब्दियों के अभिषेक जल से, बलिदान की रुधिर धाराओं से, उपचारो के लेप से, और धूपादि के धुंए से तनिक भी नही बिगड़ा है ।

प्राचीनतम मूर्तीया लकुलीश शिवलिग है । जिस पर लिग को रेखाओ द्वारा शिश्नरूप देने का प्रयत्न देखा जाता है । ऐसे शिवलिंग विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर सातवी-आठवी शताब्दी या बारहवी शती तक के हो सकते हैं । यह शको द्वारा प्रचलित शिवपूजा और लकुलीश शैवो के प्रभाव का सूचक है । कुषाण नरेश हविश्क की मुद्राओं पर भी लगुड़धारी शिव की मूर्तिया मिलती है जिन्हें लकुलीश सम्प्रदाय की मानी जाती है । बूटधारी सूर्य की मूर्तिया कश्मीर के मार्तण्ड मन्दिर से लेकर गढ़वाल कुमाऊ तक मिलती है । यह विक्रम की आरम्भिक शताब्दियों में इस प्रदेश में सूर्य पूजा और शक प्रभुत्व की पुष्टि करती है ।

सातवी शताब्दी विक्रमी से हर-गौरी (शिव-पार्वती) महिषमर्दिनी., वक्रतुण्ड गणेश, कार्तिकेय, दुर्गा आदि की माहेश्वरी मूर्तिया मिलने लगती है । उसी युग में विष्णु के वराह और नरसिह विग्रहो तथा वराह, विष्णु और नरसिंह के त्रिमुखों से युक्त सात्वत मूर्तियों का निर्माण हुआ । जिनमें कुछ एक के साथ लक्ष्मी भी बनी होती थी ।

कुषाणकालीन मूर्तियों का प्रभा मण्डल सादा रहता था । प्रभा मण्डल को कमल, पत्र, पुष्प, लता, गन्धर्व आदि से अलंकृत करने की प्रथा गुप्तकाल से आरम्भ हुई । नारियों के वर्तुल स्तनों और उर्ध्वभाग को नग्न दिखाने की परम्परा कुषाण युग से आरम्भ हो गई थी । गुप्त काल मे विष्णु आदि की मूर्तियों में शिर पर किरीट मुकुट, कानो में कुण्डल, हाथो मे कंगण, गले में हार और केयूर, वनमाला, तथा कभी कभी उत्तरीय या श्रीवत्सयुक्त वक्षस्थल

और अधोवस्त्र दिखाए जाने लगे । कुषाण काल में त्रिगुणातित त्रिशक्ती का प्रतीक शिव को त्रिमुखी दिखाए जाने लगा । और देवी-देवताओं के हाथों में निश्चित क्रम से आयुध दिखाए जाने लगे । मूर्ति के चरणों के आसपास, अनेक लघुमूर्तिया एक दूसरे के उपर खडी करके तथा प्रभा मण्डल में अन्य देवताओं की लघुमूर्तियाँ एक दूसरे के उपर खडी करके तथा प्रभा मण्डल में अन्य देवताओं की लघुमूर्तियां बनाकर सजाया जाने लगा । देव विग्रह के चरणों के पास उनके वाहनों को भी अंकित करने की प्रथा चल पडी । यह प्रथा तब से लेकर 13वीं 14वीं शती तक चलती रही । अति पतले अधोवस्त्र, करधनी, और केशों को जाली जैसे वस्त्र से ढ़का दिखाने की परम्परा भी इसी कुषाण युग में चली । वुद्ध मूर्तियों के शिर पर बुदबुदाकर केश दिखाने की प्रथा थी ।

जिन मूर्तियों में गुप्तकालीन मूर्तिकला के लक्षण मिलते है उनका निर्माण मुख्यतः भूरी बालुज शिलाओ या नीली अथवा हरी झाईवाली शिलाओं से हुआ है । भूरी बालुज शिलाओं की मूर्तियों को अनेक काले वज्रलेप के कारण काली शिला से निर्मित प्रतीत होती है ।

कुछ विशाल मूर्तिया मिट्टी के साथ बाबड़., राल, रूई आदि मिलाकर बनाई गई है । इनके पतले अंग भीतर से तार द्वारा जुड़े होते हैं । बाहर से अनेक काले वज्रलेप लगा होने के कारण ये भी काली शिलासे बनी प्रतीत होती है । उदा. मन्दिरों और मकानों की शीर्ष पट्टिका के उपर लगी अनेक गणेश मूर्तियाँ वास्तव में मिट्टी की बनी होती है ।

शुद्ध महादेव ग्राम स्थित शिव मन्दिर की मूर्ति सन्दर्भ मे

यह मूर्ति करीबन 5 फीट लम्बी और 3 फीट चौडी है । इस मूर्ति के पिछले भाग को अवलोकन करने से यह पता लगता है कि यह मूर्ति पोली है । इससे अनुमान है कि प्राचीन समय प्रतिमाकारो ने यह मिट्टी की बनायी है । जिस पर अनेक काले वज्रलेप के कारण काली शिला से निर्मित प्रतीत होती है । मूर्ति की दूसरी विशेषताएं मूर्ति के त्रिमुख एवं पाद के पास नन्दी वाहन, तथा नाग और लघु गणेश की प्रतिमा यह कुषाण काल का स्मरण करवा देता है ।

इसके बावजूद मूर्ति के सिर का मुकूट की शैली तिब्बती लामा या इससे ज्यादा नजदीक लद्दाख के मूर्तियों जैसा प्रतीत होता है ।

इससे अनुमान है कि कुषाण काल की यह मूर्ति लददाख बौद्ध लामा संस्कृति यानी मंत्रयान पन्थ की लगती है और मूर्ति के गोद में (वामांक मे) पार्वती विराजित है । यह चिन्ह अथवा आसन काम का प्रतीक है । इससे यह मूर्ति तान्त्रिक वाममार्ग की प्रतीत होती है । पार्वती के मूर्ति का अंग-प्रत्यंग कुषाण शैली मे ढाला हुआ है । जैसे मानवी रूप के अंकित गौरी के वर्तुल स्तन और उर्ध्व भाग को नग्न दिखाना ।

साररुप में यह मिट्टी की मूर्ति कुषाण काल की बौद्ध लामा संस्कृति तान्त्रिक वाम मार्ग मंत्रयान पंथ के नजदीक की प्रतीत होती है ।

आज मन्दिर के प्रांगण मे कई महत्वपूर्ण पुरातात्विक सबल प्रमाण अध्ययन योग्य मूर्तियां (टूटी-फूटी अवस्था में) लापरवाही से कूड़ा-करकट के ढेर में मन्दिर के प्रवन्धक एवं कर्मचारी वर्ग द्वारा लावारिस फैंकी हुई है । यह दुखद सत्य मन्दिर को भेंट देने वाले किसी भी तीर्थयात्री भक्त को प्रथम दर्शनी नजर आ जाती है । मन्दिर का कब्जा कुछ अधर्मी, नास्तिक स्वार्थ पूर्ती के लिए पवित्र धर्म स्थानों का आध्यात्मिक समाज केन्द्रों का विकृत तरीके से दुरूपयोग करने वाले, अपना व्यक्तिगत स्वार्थ एवं पैसा ही ईश्वर मानने वाले, श्रद्धा स्थान को विलास का, भोग का, मनोरंजन का टूरिस्ट होटल में धन के अती लालच पैसों के लिए तबदील करने वाले दुष्ट प्रवृत्ति के तत्वो के हाथ में मन्दिर की बागडोर जाने से अधोगती हुयी है ।

इस मन्दिर के गहन अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में एक वक्त इस पूरे पहाडी टीले पर देवदार का घना जंगल था । उस वक्त नाग जाती के कुछ मेघ/माशा जाती के (हरिजन) लोग रूघहार ग्राम (अब जिला डोडा अन्तर्गत) से शिवगढ़ के पहाड़ी धारो के रास्ते होते हुए उस शुद्ध महादेव ग्राम के पहाडी टीले पर पहुचे और इस टीले के ढलान पर अपने पशुओं समेत कबीले के बस्ती बनाकर रहने लगे । कालान्तर से वे वही कृषि आदि व्यवसाय करने लगे । उस वक्त उस कबीले के एक मेघ किसान



हरिजन को खेत में हल चलाते वक्त एक शिश्न देव शिवलिंग प्राप्त हुआ । उस वक्त परम्परा से उस कबीले मे शिश्न देव स्वरूप मे शिव पूजा प्रचलित थी और देवता स्वरूप में शिव की मान्यता प्रबल थी । इसलिए उस शिवलिंग को उन्होने अपनी देवता मानकर इस पहाडी टीले के ऊँची जगह पर एक चौकार शिला के मध्य मे सुराख करके शिश्न देव शिवलिंग स्थापित किया । आज भी पहाड़ो में या ऊंची जगहों पर पत्थरों के ढ़ेर लगाकर देवता का स्वरुप बनाया हुआ दिखायी देता है । यह प्रथा परम्परा से अव्याहत रुप से आज तक चली आयी है ।

इसके बाद वे नाग जाती के कबीलों के मेघ जाती के लोग रूघहार आदि जगह से वर्ष में एक दिन इस जगह इक्ठ्ठा होकर इस शिवलिंग को देवता मानकर उसके सामने ढोल, नगाडे बजाकर रात्री में मशालों के प्रकाश मे रात भर नाच करके-गा कर त्यौहार जैसा व्यतित करते थे । इस त्यौहार में अड़ोस पड़ोस के सभी मेघ जाती के लोग इकठ्ठा होते थे । आज भी वह शिश्न देव शिवलिंग उसी जगह पर चौकार शिला में स्थापित है । और यह सभी मेघों की त्यौहार की प्रथा हजारो वर्षो के कालान्तर से भी आज तक परम्परागत अक्षुण्ण चली आयी है । जिसे स्थानिय भाषा में पर्यायी पुड़धार कहते है । यह विचित्र संयोग की बात है कि यह पुड़धार देवता भी नाग के स्वरूप मे है । जिसके यहां सभी अडोस पड़ोस के गांवो मे नाग के स्वरुप में मन्दिर आज भी दिखायी देते है । और इन लोगो के कुल देवता स्वरुप मे आज भी पुड़धार-नाग देवता पूजीत है । हजारों वर्षो के लोक परम्परागत आज भी इस पहाडो के सभी निवासी लोगो में परम्परा चली आयी है कि यह लड़की के शादी विवाह पश्चात विदायी के वक्त डोली के साथ लड़की के हाथ में एक छोटा त्रिशूल जिसके दोनो बाजू के सीरे मुड़े होते है वह अपने कुल देवी-देवता स्वरूप में चामुण्डा देवी के प्रतीक स्वरूप में देते है । और वह लड़की अपने ससुराल के घर में उसे स्थापित करती है । आज भी हजारों इनके घरों में इस प्रतीकोपासना के चिन्ह मिलते है । विचित्र संयोग की बात यह है कि शुद्ध महादेव मन्दिर स्थित त्रिशूल के भी दोनो बाजूओके सीरे मुड़े हुये आज भी दिखायी देते है । पुड़धार नाग देवता के उत्सव पर्व पर हर वर्ष भेड़ बकरी का बलिदान किया जाता है । तथा इनकी कुलदेवी चामुण्डा के सम्मुख हर तीन वर्ष मे घर-घर मे जगराता करके बलि देने की प्रथा आज भी मौजूद है ।



इस शिवलिंग की मेघों के द्वारा स्थापना पश्चात यहां नागराज विभुनाग का पुत्र गणपतिनाग ने इस शिवलिंग के बिल्कुल सम्मुख नीचे जमीन पर त्रिशुल स्थापित किया । तब तक यह घना जंगल ही था औरं ढलान पर कुछ घरो की इस कबीले की मेघ बस्ती मात्र थी । जो हिलदाना या लदाना नामसे आज तक प्रचलित है । अनुमान है कि यह मेघ पूर्ववर्ती नाग जाती के पर्वताश्रयी निवासी थे । बौद्ध काल के उत्कर्ष में यह नाग बौद्ध उपासक बनें । इसके पुरातात्विक इतिहास प्रमाण भी आज मौजूद है । एक वक्त पूरा जम्मू एवं कश्मीर प्रखर बौद्धधर्मावलम्बीथा । बौद्ध धर्म के पतन पश्चात उस समय से तिरस्कृत मेघ में (हरिजन) रूपान्तरित हो गये हो । कुछ एक काल बीतने पर शिव की आज की मृण्मय मूर्ति प्राप्त होने से इसी जगह मूर्ति को ध्यान में रखकर चैत्य या मन्दिर का निर्माण हुआ । कालान्तर से इसकी टूट-फूट भी होती गयी और वक्त वक्त पर इसकी दानीयो द्वारा मरम्मत कार्य भी होता रहा । करीबन चौदहवी शताब्दी मे चेनानी के 35 वें राजा रामचन्द्र ने इसकी मरम्मत सुधार किया था । यहां चेनानी का राज वंश 9वी शताब्दी में प्रस्थापित हुआ था । उस वक्त संखीया से एक नाथ सम्प्रदाय का महात्मा आकर यहां निवास करके उसने इस स्थान को सम्भाल दिया । जिसकी गद्दी आज तक नाथ सम्प्रदाय के पास थी, लेकिन कुछ वर्षो पूर्व कुछ धर्म के व्यवसाय करने वाले स्वार्थी तत्वों ने षड़यंत्र करके इस स्थान पर अपना कब्ज़ा जमा लिया । आज से 200-250 वर्ष पूर्व चेनानी के एक राजा केदारचन्द ने इस स्थान का जिर्णोद्धार करके इसके रखरखाव खर्च हेतू ताम्रपट द्वारा कुछ जमीन दान पत्र लिखकर दे दी थी। इसी वक्त भी मन्दिर मे शिवलिंग दाहिने बाजू मे एक कोने में स्थित है और मूर्ति बिल्कुल दरवाजे के सामने दर्शनी दृष्टी पथ में आ जाती है । अगर पुरातन शिवलिंग को ध्यान में लेकर मन्दिर की नींव रखी होती तो शिवलिंग मध्य में होता और मूर्ति कही और आगे पीछे । लेकिन इस मन्दिर की नींव मूर्ति को ध्यान में रखकर की गयी । इसलिए शिवलिंग को जैसे के वैसे उसे उंचे पत्थर पीठासन के साथ एक किनारे करके चैत्य/मन्दिर को उसी ऊँची जगह पर बनाया गया, यही प्रतीत होता है । इसी जगह का नाम शुद्ध महादेव भी करीबन 100–150 साल पूर्व ही दिया गया है । और आज जो शुद्ध महादेव ग्राम स्थित बस्ती है यह लोग मूलतः कुछ रामनगर से , कुछ भद्रवाह से, कुछ डुडु-बसन्तगढ़ से, कुछ

लाठी-धुना से, कुछ धनास से हाल ही मे 100 वर्षो के दरम्यान यहां आकर व्यवसाय, अन्य कारणों से बसे है । इसके विपरीत यहां के मूल निवासी मेघ इनका उच्चाटन हो रहा है । ग्राम लदाना में इनके मकान-जमीन ब्राह्मणों ने पैसों का लालच देकर खरीद कर अब वहाँ ब्राह्मणों की पूरी बस्ती बन गयी है । विचित्र बात यह है कि आज मन्दिर जिनके कब्जे में है इन्हीं लोगों ने मन्दिर को अनादि-प्राचीन से प्राचीन सिद्ध करवाने के प्रयास में मन्दिर के द्वार पटों पर तथा अन्यत्र पत्थरों पर उत्कीर्ण लेख अन्य महत्वपूर्ण साक्ष्य के नामोनिशान तक मिटा दिये है ।

उपरोक्त जानकारीयाँ जनश्रुतियाँ आदि के वैज्ञानिक ढंग के अध्ययन करने पश्चात सत्य एवं तथ्य सामने आ जाता है ।

इस स्थान को शूलपाणिश्वर तीर्थ नाम से राजतरंगिनी के सन्दर्भ के साथ कुछ पोंगा पण्डितों ने जोड़ तोड़ करके भ्रामक प्रचार भी कर रहे है । वस्तुतः राजतरंगिनी में सन्दर्भ तीर्थ शूलपाणिश्वर यह ग्राम बेनी संगम है । इसका सन्दर्भ प्रमाण ग्राम बेनी संगम का ब्राह्मी भाषा में शिला लेख अभी भी मौजूद है । इस अनुमान की पुष्टर्थ इस जगह ग्राम बेनी संगम का गहन इतिहास पुरातात्विक अध्ययन इस दिशामें जरूरी बन गया है ।



मन्दिरों की प्रस्तर (दीवारों पर) उत्कीर्ण मूर्तिकला में शिव ।

139





गोपेश्वर, जिला चिमोली (गढ़वाल) उ. प्र. के शिव मन्दिर में निकट के ध्वस्त मन्दिरों से एकत्रित शिश्न स्वरुप शिवलिंग । प्राचीननतम प्रतिमा । लिंग को रेखाओं द्वारा शिश्न रूप देने का प्रयत्न दिखाई देता है । शकों द्वारा प्रचलित शिव पूजा और लकुलीश शैवों के प्रभाव को सूचित करता है ।

सम्भवतः दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक मिलते हैं । इनमें से कुछ में लिंग के उपर शिव-पार्वती, शिवमुख, पंचमुख, शिव उकेरे या बनाये हुये है । इससे वेद और पुराण आख्यानों की शिव की संकल्पनों का विपर्यास्त दिखायी देता है ।

"आकाशं लिंगमित्याहु, पृथिवी तस्य पीठीकाः।
आलय सर्वभूतानां लयनालिंगमुच्यते ।।"

पद्म पुराण

लिंग यानी ब्रह्माण्ड-विश्व पूजा का प्रतीक था । काम-भोग का या विकृत सृजनता के नाम पर पुरुष एवं प्रकृति या लिंग और योनी का प्रतीक नही था ।



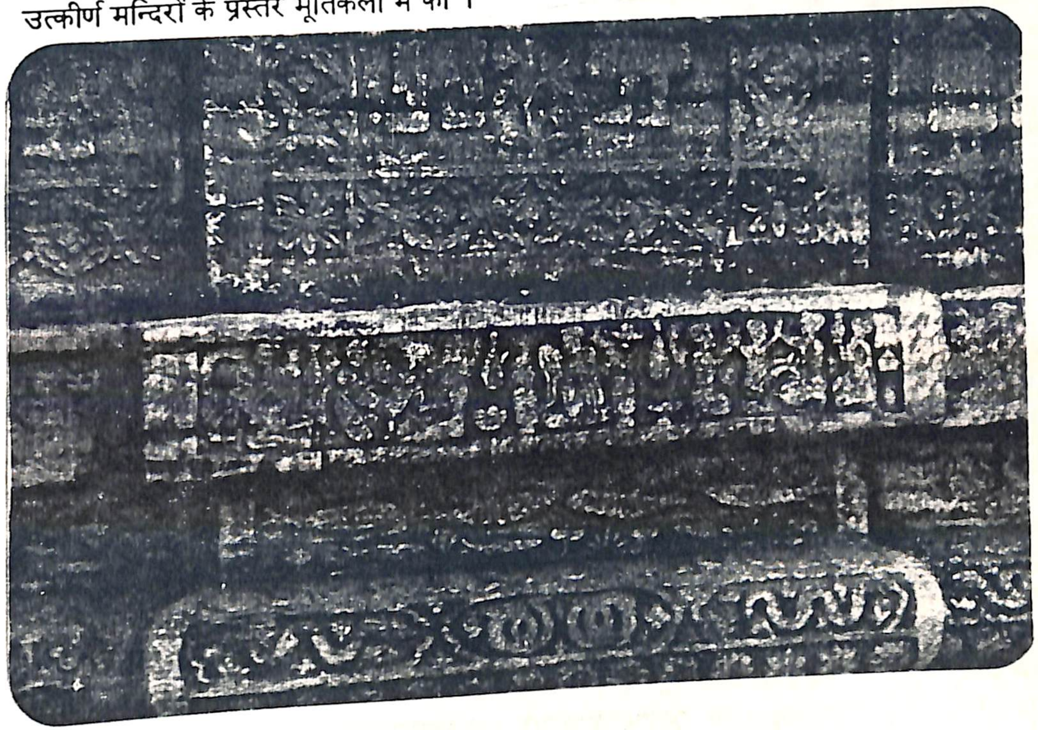
पुरातन मन्दिर प्रस्तर मूर्तिकला में नाग बेल-बूटी के स्वरूप में उत्कीर्ण ।

तथा उपर अंकित भोग-काम-मैथुन क्रीड़ा की मूर्तियाँ उत्कीर्ण है ।

विचारकों ने इस प्रकार की स्थापत्य कला को चित्रित किये जाने के विषय में अनेक विचार व्यक्त किये है । कुछ विद्वानों का कहना है कि योग की तरह भोग को भी मोक्ष का मार्ग माना गया है । उदा. चार्वाक तथा विकृत रूप में पंच मकारों का सेवनादि करने वाले अघोरपन्थी तात्रिक तंत्रमार्गी एवं बौध्द मार्ग के मंत्रयान पन्थ के तिब्बती लामा तंत्र उपासक । अतः भोग की इस प्रक्रिया को भी धार्मिक अनुष्ठान की तरह संपन्न किया जांता था । एक अन्य कारण चार पुरूषार्थ धर्म, अर्थ, काम मोक्ष की स्थापना हेतू ही इस काम का चित्रण हुआ । कुछ ने इस चित्रण को इन्द्र की आराधना से जोडा । एक अन्य मगर सशक्त कारण उस काल में बौध्द धर्म का गतिशीलता से जनप्रभाव माना गया है । गृहस्थ जीवन को जीवन्त बनाए रखने के लिए ही ये काम-सूत्र के चित्र पत्थरों

पर तराशे गये । ऐसा शायद इसलिए कि आज की तरह प्रचार माध्यम तो उपलब्ध नही थे । मन्दिरों में पूजन हेतु भारी संख्या में जन आया करते थे ।

जो सम्भवतः इन मूर्तियों के हस्त शिल्प पर उभरे हुए सूत्रों को ग्रहण करते रहे होंगे । या हजारों वर्षों की परम्परा से नाग जाती के लोग वास्तुशिल्प-स्थापत्य कला-तक्षण कला में माहिर थे । और उनकी एक विशिष्ट शैली-विचार धारा थी जो उन्होंने जगह जगह अपने कला के द्वारा पत्थरों पर उत्कीर्ण मन्दिरों के प्रस्तर मूर्तिकला में की ।



हिन्दू
जालंधर
2 मई 1993

आजकल

नाग जाति के संस्कृति चिन्ह- पुरातन शिलालेख मिले

प्रगैतिहासिक मूल की नाग जाति की संस्कृति को व्यक्त करने वाले कुछ पुरातन शिलालेख जम्मू क्षेत्र में हाल में उपलब्ध हुए हैं। इनमें से एक चेनानी तहसील के ग्राम से 15 कि.मी. दूरी पर स्थित रेंगी ग्राम के नजदीक लावारिस स्थिति में स्थित है। दूसरा शिलालेख चेनानी गांव से 8 कि.मी. दूरी पर बेनी संगम ग्राम के तवी और देविका नदियों के संगम के किनारे पर स्थित है।

इन शिलालेखों के ब्राह्मी लिपि के अनुवाद के कार्य में अथक प्रयासों के बावजूद सफलता नहीं मिल पायी है। जम्मू पर्वतीय राज्य के आदि निवासी नाग जाति के लोग कबीलों के रुप में निवास करते थे। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसा की आठवी शताब्दी तक, जनजातियों के छोटे-छोट कबीलों के रुप में राज्य बंटा हुआ था। इसके पुरातात्विक सबल प्रमाणा आज भी मिल रहे हैं। उदाहरण स्वरूप शुद्ध महादेव ग्राम में शिव मन्दिर स्थित त्रिशूल पर ब्राह्मी लिपि में अंकित नाग राजा विभुनाग का नाम। कुछ वर्ष पहले पंजाब विश्वविद्यालय के विद्वान प्रो. जगन्नाथ अग्रवाल ने यह शिलालेख महत् प्रयास से अनुवादित करके पोंगा-पंडितों की जोड़तोड़ करके, जन-श्रुति के नाम पर कल्पित भ्रामक कथा-कहानियों का पर्दापाश किया था और धर्म की आड में पल रही अंधश्रद्धा का भंडाफोड़ किया था।

उक्त इतिहास व संस्कृति के प्राचीन पुरातात्विक प्रमाण आज भी यहां के समाज की संस्कृति, प्रथाएं, रीति-रिवाज, संस्कार, इष्ट- देव, उपासनादि जो वंश परम्परागत अव्याहत रूप में चले आ रहे हैं, में दिखाई देता है। इसके बावजूद धर्म स्थान-मठ -मन्दिरादिका अपने स्वार्थपूर्ति हेतु व्य-वसाय करने वाले कुछ तत्व इन पुरातात्विक सबल प्रमाणों को झुठलाकर अज्ञानी समाज को भ्रमित करके धर्म श्रद्धाभाव को भुनाने के कार्य में कार्यरत हैं। -त्यागी हरिहरदास

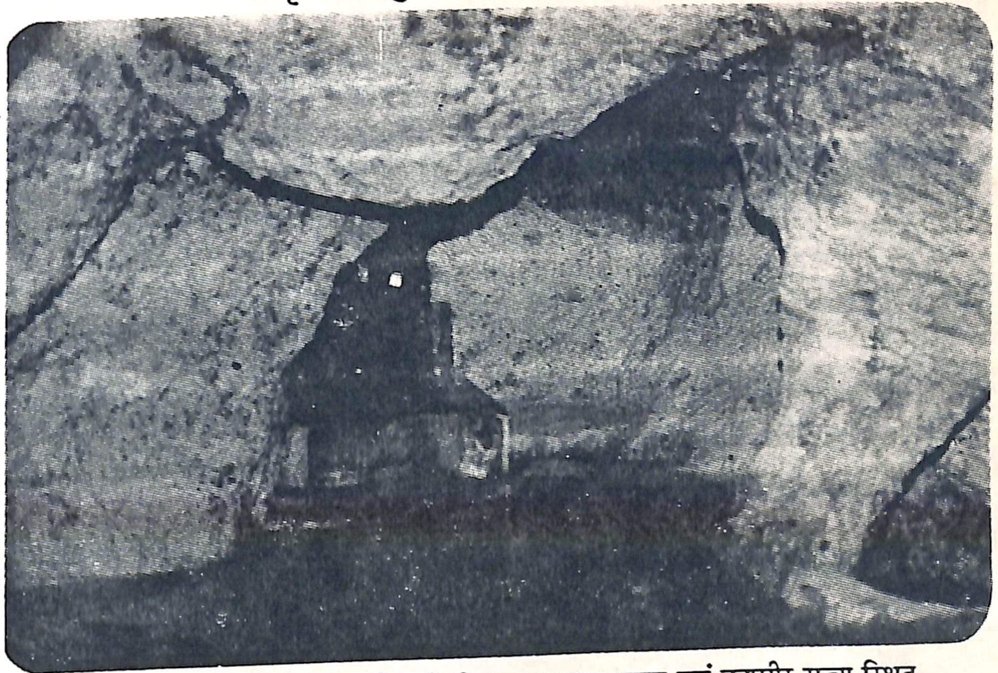
सौजन्य से

पुरातन शिलालेख ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी-उत्तर महाभारत मौर्य काल ब्राह्मी लिपी



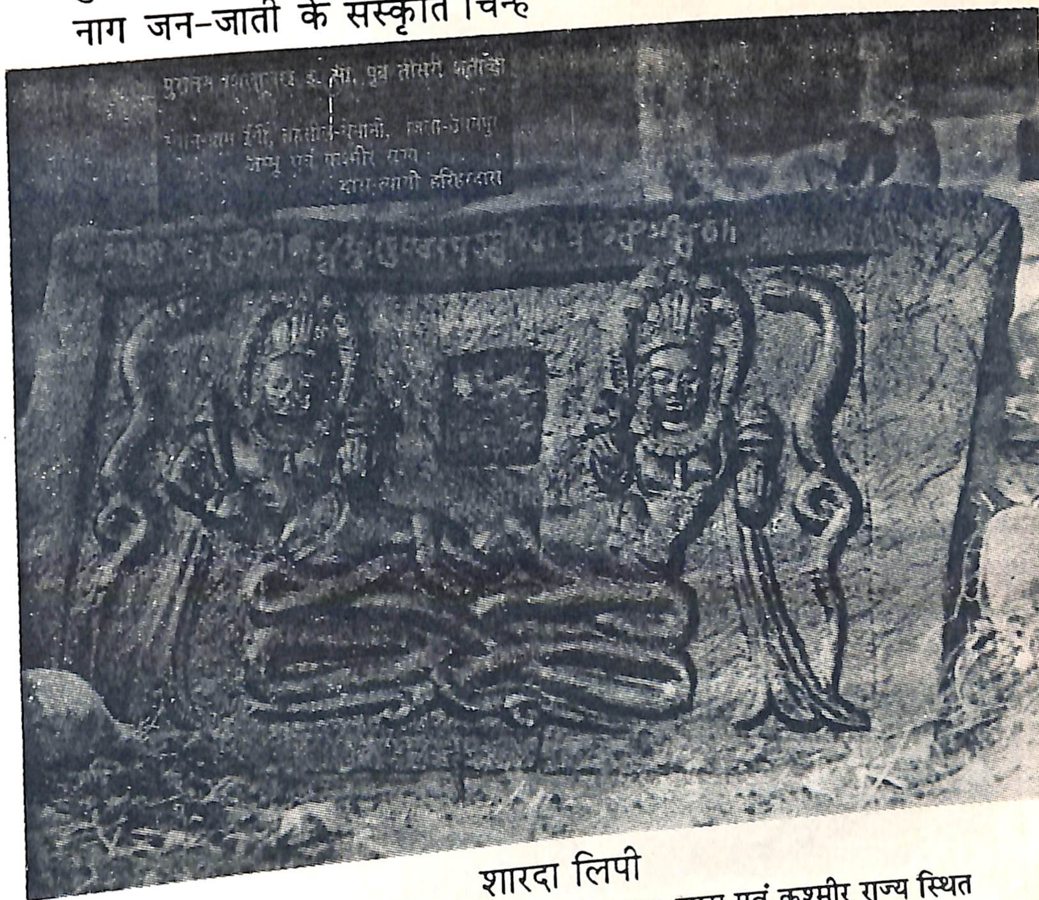
स्थान - ग्राम बेनी संगम, तहसिल-चेनानी, जिला-उधमपूर, जम्मू एवं कश्मीर राज्य में तवी एवं देविका नदी संगम किनारे में स्थित,

प्राकृतिक गुफा एवं जल स्त्रोत-कुण्ड



स्थान - गौरी कुण्ड, तहसील-चेनानी, जिला-उधमपूर, जम्मू एवं कश्मीर राज्य स्थित

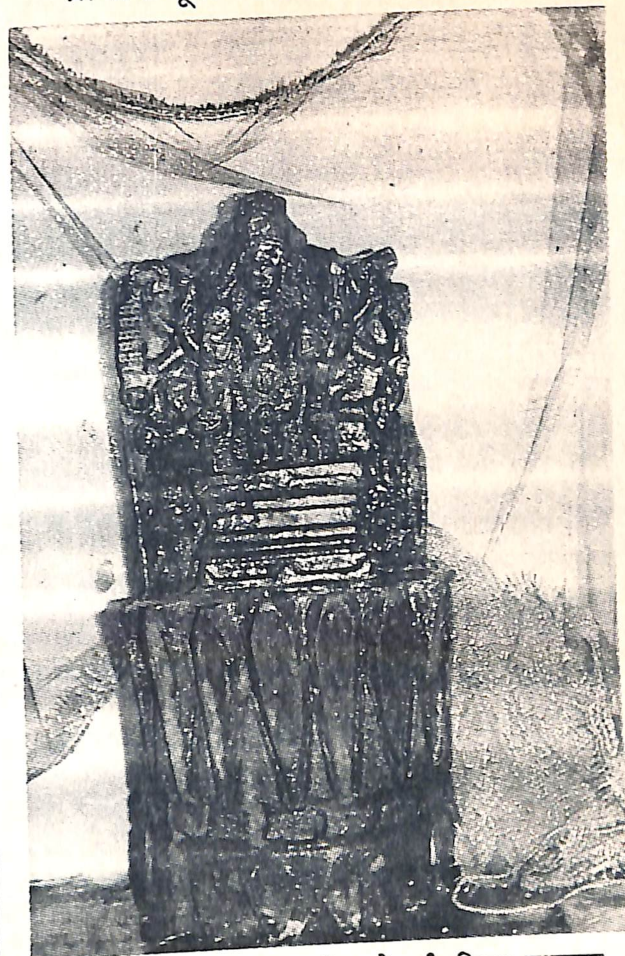
पुरातन शिलालेख ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी-प्रागैतिहास की लुप्तप्राय नाग जन-जाती के संस्कृति चिन्ह



शारदा लिपी

स्थान - ग्राम-रेंगी, तहसील-चेनानी, जिला-उधमपूर, जम्मू एवं कश्मीर राज्य स्थित

प्राचीन मूर्ती - तांत्रिक वाममार्ग शैली



स्थान - गौरी कुण्ड, तहसील-चेनानी, जिला-उधमपूर,
जम्मू एवं कश्मीर राज्य स्थित

139

दैनिक पंजाब केसरी, जालंधर

सौंदर्य और श्रद्धा का संगम—शुद्ध महादेव

शुद्ध महादेव मानतलाई क्षेत्र एक अत्यन्त मनोरम पर्यटक एवं तीर्थ स्थल के रूप में विकसित हो रहा है। यहां वह सब कुछ है जो पर्यटकों एवं श्रद्धालुओं को आकर्षित करने के लिए वांछित होता है—मनोहारी प्राकृतिक सौंदर्य, गगन चुम्बी तथा बर्फ से ढंकी पर्वतों की चोटियां, स्वास्थ्यवर्द्धक आबोहवा, भगवान शिव से संबंधित मंदिर तथा समृद्ध ऐतिहासिक पृष्ठभूमि। यद्यपि यह स्थान अपने इन गुणों के कारण शताब्दियों से विख्यात है लेकिन यह चर्चा का विषय अभी पिछले दिनों बना जब यहीं राज्य पर्यटन विभाग द्वारा बारह दिवसीय 'राष्ट्रीय कला शिविर' आयोजित किया गया।

शुद्ध महादेव जम्मू के उत्तर में ऊधमपुर जिले की चेनानी तहसील में समुद्र तल से 5000 फुट की ऊंचाई पर स्थित प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर स्थल है। शुद्ध महादेव का सम्बन्ध भगवान शिव से बताया जाता है। यहां एक 3000 वर्ष पुराना शिव मंदिर है। इसमें एक छोटा-सा शिवलिंगम है जिसके बारे में विश्वास किया जाता है कि माता पार्वती इसकी पूजा करती थीं। यहां तीन भागों में विभाजित भगवान शिव का विशाल त्रिशूल भी है जिसके मध्य में बने निशान को शिव की मुट्ठी का निशान समझा जाता है। यह त्रिशूल धरती में गड़ा हुआ है। शुद्ध महादेव के मुख्य छोटे मंदिर में काले संगमरमर से बनी भगवान शिव, मां पार्वती तथा गणेश की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है, जिसमें उन्हें नंदी बैल पर सवार दिखाया गया है।

इस मूर्ति तथा त्रिशूल के बारे में अनेक दंत कथाएं प्रचलित हैं। एक दंत कथा के अनुसार एक बार जब पार्वती उस स्थान पर पूजा कर रही थी जहां वर्तमान मंदिर स्थित है, तो वह सुधीत नामक एक राक्षस को देख कर भयभीत हो उठीं तथा उनके मुंह से एक जोरदार चीख निकल गई। भगवान शिव, जो कि निकटवर्ती पर्वत पर ध्यान में मग्न थे, ने आवाज की दिशा में अपना विशाल त्रिशूल फैंक दिया। त्रिशूल मंदिर स्थल के बिल्कुल निकट आकर सुधीत को लगा और उसने 'शिव' को नाम लेकर पुकारा। भगवान शिव ने उसे प्राणदान की पेशकश की लेकिन सुधीत ने यह कहते हुए इससे इंकार कर दिया कि इससे श्रेष्ठ मुक्ति का और मार्ग क्या होगा। इस पर भगवान शिव ने उसे वरदान दिया कि आने वाले जमाने में भी सुधीत का नाम लिया जाएगा और इस प्रकार इस गांव का नाम 'शुद्ध महादेव' पड़ा। मंदिर के निकट अभी भी गड़ा हुआ यह त्रिशूल उक्त दंत कथा को विश्वसनीयता प्रदान करता है।

मंदिर के निकट ही देविका नदी है जहां मंदिरों में पूजा-अर्चना करने के लिए जाने से पूर्व श्रद्धालु स्नान करते हैं। मंदिर से ग्यारह किलोमीटर की दूरी पर गौरी कुंड है जिसके बारे में विश्वास किया जाता है कि भगवान शिव का आशीर्वाद लेने के लिए तप करने जाने से पूर्व उमा ने यहां स्नान किया था।

मानतलाई में भी, जो कि यहां से 8 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है, एक अन्य मंदिर है। किवदंती के अनुसार शिव-पार्वती ने अपने विवाह के पश्चात् इसी स्थान पर विश्राम किया था।

यद्यपि लोग शिव रात्रि, चैत चतुर्दशी तथा बैसाखी के अवसर पर शुद्ध महादेव में दर्शनों के लिए आते हैं लेकिन जून मास में ज्येष्ठ पूर्णिमा के अवसर पर यहां तीन दिवसीय मेला भरता है जिसके लिए यह विशेष प्रसिद्ध है।

पर्यटन विभाग ने इस सुन्दर भूखंड के प्रति देश भर के लोगों की दिलचस्पी उत्पन्न करने के लिए इस शिविर का आयोजन किया था। इस दौरान देश भर से आई विभिन्न क्षेत्रों की जानी-मानी हस्तियों, पत्रकारों आदि को इस क्षेत्र के व्यंजनों एवं लोक संस्कृति, नृत्यों आदि से भी परिचित कराया गया। अनेक आगंतुकों का कहना था कि उन्होंने यहीं आकर पहली बार बर्फ ढंके पहाड़ देखे हैं।

—गोपाल सच्चर

चिता की बची लकड़ियां जला कर ठंड भगाई

दैनिक पंजाब
केसरी, जालंधर
18.8.1993

जन्नत के नज़ारे
खतरों के सहारे
(5)
***

—प्रविंद्र शारदा



सुबह छः बजे उठ कर हम लोग सारे कामकाज निपटा कर अगली मंज़िल की ओर बढ़ने को तैयार थे । अभी मानतलाई जो कि पार्वती की जन्मस्थली व विवाह स्थली माना जाता है, के बारे में बहुत सी और ऐतिहासिक कथाएं सुननी बाकी थीं लेकिन हम ट्रैकरों को काम तुरत-फुरत निपटाना ही होता था इसलिए बहुत सी जानकारियां हम नहीं प्राप्त कर सके ।

हमें बताया गया कि अब हमें वहां से 5 किलोमीटर दूर 'सुध महादेव' जाना है । हम मानतलाई के अपर्णा आश्रम से विदाई लेकर अब सुध महादेव की ओर बढ़ गए । लगभग डेढ़ किलोमीटर भर पक्का रास्ता पार करने के बाद हमें एक गहरी खड्ड में उतरने को कहा गया । भल्ला साहिब ने बताया कि पहले सीधा खड्ड की तली में जाकर वहां से सीधे सुध महादेव की चढ़ाई चढ़नी है । यह लगभग साढ़े तीन किलोमीटर भर थी । मानतलाई से बस का रास्ता भी है जो 13 किलोमीटर है और बस से सवा घंटा लग जाता है क्योंकि रास्ता खतरनाक मोड़ों से भरा पड़ा है ।

यह हमारी ट्रैकिंग यात्रा का साहसिक चरण था । मुश्किल से तीन फुट भर की पगडंडी से उतरना बड़ा अच्छा लग रहा था । हमारे चारों तरफ बादल उड़ रहे थे । वह खड्ड जिसमें हम उतरते जा रहे थे किसी खौफनाक जासूसी उपन्यास की याद दिला रही थी । तभी सूर्य देवता प्रकट हो गए और हमारे देखते ही देखते धुंध के बादल छंट गए । दूर तक हरियाली और नीले आसमान में अपनी सीमाओं की होड़ सी लगती नजर आ रही थी । ट्रैकर आमतौर पर जब उतराई पर होते हैं तो जोश से काम न लेकर सावधानी से काम करना होता है और सभी ने यही किया । बिल्कुल तली में पहुंचकर एक चश्मा आया । हमने चश्मे का मीठा पानी पिया और पीते ही थकान गायब । प्राकृतिक खनिजों से परिपूर्ण यह पानी हम शहरियों को किसी कीमत पर शहर में नसीब नहीं हो सकता है । एक बात बड़े ताज्जुब की यह भी है कि खड्ड में तीन दिशाओं से पानी नीचे तली की ओर जा रहा था और तली में वह चश्मा जिसका हमने पानी पिया, वह जमीन में से ही फूट रहा था । इस प्रकार की प्रकृति से साक्षात्कार भी हो सकता है लेकिन सही लुत्फ तो ट्रैकर ही उठाते हैं जो पहाड़ों की गोद में खेलते हैं ।

यहां कदम-कदम पर चिनार के पेड़ थे । चढ़ाई भी सीधी जरूर थी लेकिन हमें खास दिक्कत नहीं हुई और जब खड्ड पर पहुंचे तो पता चला कि हम सुध महादेव पहुंच चुके हैं । पानी का एक चश्मा चिनार के पेड़ों की छाया के नीचे था जिस के निकट हमारा पड़ाव लग गया । पास ही सुध महादेव का मंदिर था । हम लोग चश्मे के पानी में नहा धोकर मंदिर की ओर चल दिए । सुध महादेव समुद्र तल से 5100 फुट की ऊंचाई पर है ।

मंदिर क्या बस मनोकामना पूर्ण होने का स्थान था । यहां पार्वती ने शिव को पाने के लिए तपस्या की थी । तपस्या के दौरान पार्वती को वहां एक राक्षस सुदन्त तंग करता था तो पार्वती ने प्रभु शिव से शिकायत की जिसपर शिवजी ने कैलाश पर्वत से अपना त्रिशूल फैंक मारा तथा सुदन्त का सिर कट गया । मंदिर यहीं है और एक दावा यह है कि यहां हर मुराद पूरी होती है ।

बाहर ही एक शानदार बाजार था । हर बढ़िया खान-पान यहां उपलब्ध था । हम अपने पड़ाव की ओर बढ़ गए । चिनार के नीचे चश्मे के पास हमने खाना खाया तथा घंटा भर विश्राम के बाद हमें अगले पड़ाव के बारे में कहा गया कि अब गौरी कुंड जाना है जहां पार्वती की एक सुरंग तथा गुफा है । गौरी कुंड जैसे तीर्थ स्थलों के नजारे सिर्फ जोखिम उठा कर ही लिए जा सकते हैं क्योंकि वाहन वहां पहुंचते ही नहीं । कुल सात किलोमीटर और चलना था ।

सफर शुरू हुए एक किलोमीटर ही गुजरा होगा कि ठंडी हवाओं ने हमारी परीक्षा ली । हम सभी फेल हो गए लेकिन गर्म कपड़े निकाल कर पहने तो हम बर्फानी हवाओं का सामना करते हुए अपनी मंजिल की तरफ बढ़ने लगे ।

यहां से दूर कश्मीर की घाटियां दिखाई दे रही थीं ।

कई बार तो लगता था कि ऊंची पहाड़ियों ने आसमान को चूम लिया है । चढ़ाई खतरनाक और सीधी होती जा रही थी । अमरपाल जो कि यहां गाइड की भूमिका अदा कर रहे थे वास्तव में ट्रैकिंग इन्स्ट्रक्टर हैं, उन्होंने मेरा हाथ थामा और हमारा छह जनों का काफिला आगे बढ़ने लगा । दूर गौरी कुंड मंदिर का लाल झंडा नजर आया । कदम तेजी से बढ़ने लगे । सर्द हवाओं के बावजूद हम पसीने से तर थे और अपने रात भर के पड़ाव के लिए गौरी कुंड पहुंच चुके थे । गौरी कुंड 4845 फुट की ऊंचाई पर स्थित है ।

दूर-दूर तक वीरान घाटियो-आबादी के नाम पर एक मकान और गौरी कुंड की जड़ से निकलती नदी थी । दो पुजारी वहां बैठे थे । हमारे रुकसैक उतारने की देर थी कि ठंड के हमले शुरू हो गए । रसोइए चाय की तैयारी करने लगे ।

चाय पीने के बावजूद कंपकंपी छिड़ी हुई थी । हम लोग पास ही पड़ी लकड़ियों के टुकड़े देख कर खुश हो गए । उन्हें उठा कर ले आए और तापने लगे । थोड़ी देर बाद पता चला कि यह तो श्मशान में चिता की बची हुई लकड़ियां थीं । हमारी सारी सर्दी गायब हो चुकी थी और हम पसीने से तर-बतर थे, कि शाम ढल गई थी ।

(क्रमशः)

उपरोक्त दोनों पंजाब केसरी के लेखो में उल्लेखित सुद्धान्त असुर-राक्षस का कथा-भाग असत्य-भ्रामक है उसका स्पष्टीकरण प्रमाणों सहित लेखमाला में किया है।

वैविध्यपूर्ण सांस्कृतिक स्थलो, विशिष्ट पुरातात्विक धरोहरों व विभिन्न ऐतिहासिक कलाकृतियों को सहेजने, साफ-सुथरा रखने और संरक्षण देने की जिम्मेदारी पुरातत्व विभाग की है। बदकिस्मती से यह विभाग शुरू से ही ऐसे अड़ियल और मुफ्त खोर अधिकारियों के कब्जे में रहा है, जिन्हें विभागीय कार्यों के प्रति घोर उदासीन रहने में आनंद मिलता है। दफ्तर की आरामदेह कुर्सियों पर अजगर की भांति कुंडली मारे बैठे ये अधिकारीगण हमेशा घरेलू उत्थान-पतन की चिंता में रहते हैं। फाइलों की धूल झाड़ने में अक्षम इन कर्महीन अधिकारियों के कारण गरिमामय सांस्कृतिक विरासत के जर्जर स्मृति चिह्न दिनों दिन तीव्रता से लुप्त हो रहे हैं।

प्राचीन इतिहास की जानकारी देने वाली विभिन्न काल वैभव की अमूल्य एवं अथाह सामग्री पुरावशेषों के रूप में बिखरी या दबी पड़ी है। इनकी मरम्मत और जीर्णोद्धार के नाम पर निजी स्वार्थ से घिरा पुरातत्व विभाग हर वर्ष लाखों रुपये डकारता है। किन्तु उक्त स्थलों पर विनाश का मंडराता खतरा पल-प्रतिपल और गंभीर होता जा रहा है। सुरक्षा और देखरेख के अभाव में अनेक समृद्ध एवं विविधतापूर्ण सांस्कृतिक स्थलों का अस्तित्व जड़मूल से नष्ट होने के खतरों से घिर गया है। इन्हें संरक्षण देने वाला कोई नहीं है। भारतीय वास्तुकला की श्रेष्ठता के प्रतीक प्राचीन मंदिरों का ढहना पुरातत्व विभाग की अक्षमता एवं लापरवाही का सजीव उदाहरण है।

किसी समय कला और सौंदर्य के पारखी इन मंदिरों को निहार कर हतप्रभ रह जाते थे, किन्तु विभागीय अकर्मण्यता के कारण इन मंदिरों के स्वर्णिम सौंदर्य को अब काल रूपी ग्रहण ने ग्रस लिया है।

किन्तु पुरातत्व विभाग के कर्मचारी व उसकी टूटी खटिया के अलावा इन मंदिरों की किसी को रत्ती भर परवाह नहीं है। गिनती के रुपये पाने वाला अदना नौकर अपनी रोटियों की फिक्र करे या ढहे मलबे की, यह वह समझ नहीं पाता है।

